पं. श्रीजिनहर्षगणिविनिर्मित

श्री गुणानुरागकुलक

(संस्कृत-छाया, शब्दार्थ, भावार्थ एवम् हिन्दी-विवेचन युक्त पठनीय ग्रन्थ)

विवेचक

श्री सौधर्म बृहत्तपोगच्छीय जैनाचार्य

श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी म. सा.

प्रकाशनोपदेशक

राष्ट्रसंत श्रीमद् जयन्तसेनसूरीश्वरजी म. सा.

प्रकाशक

श्री राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट

श्री राजेन्द्रसुरि चौक, रतनपोल, हाथीखाना, अहमदाबाद (गुजरात)

❑
श्रीगुणानुरागकुलक/आचार्य श्रीमद् विजययतीन्द्रसूरीश्वरजी म. सा.
विवेचक /राष्ट्रसंत श्रीमद् जयन्तसेनसूरीश्वरजी म. सा.
सहसम्पादक /श्री फतहसिंह लोढ़ा, भीलवाड़ा

❑
प्रकाशक :
श्री राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट
श्री राजेन्द्रसूरि चौक, रतनपोल, हाथीखाना, अहमदाबाद (गुजरात)

❑
सर्वाधिकार प्रकाशक के हितार्थ

❑
ईस्वी सन् १९९७ वीर संवत् २५२३
राजेन्द्र संवत् ९१ विक्रम संवत् २०५३
शक संवत् १९१८-१९१९ प्रथमावृति संवत् १९७४
द्वितीयावृति संवत् २०५३

❑
संस्करण : १९९७

❑
मूल्य १००/- रुपये

❑
प्राप्तिस्थान :
- श्री राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद (गुजरात)
- यतीन्द्र साहित्य सदन, सरस्वती-विहार, कोर्ट के सामने, भीलवाड़ा (राज.) ३११००१, दूरध्वनि २१४८३

❑
मुद्रण :
यतीन्द्र प्रिन्टर्स एण्ड पब्लिशर्स, सरस्वती-विहार, भीलवाड़ा ३११००१
दूरध्वनि : २१४८३

व्याख्यान-वाचस्पति जैनाचार्य
श्री श्री १००८ श्री श्री भट्टारक विजययतीन्द्र सूरीश्वरजी महाराज

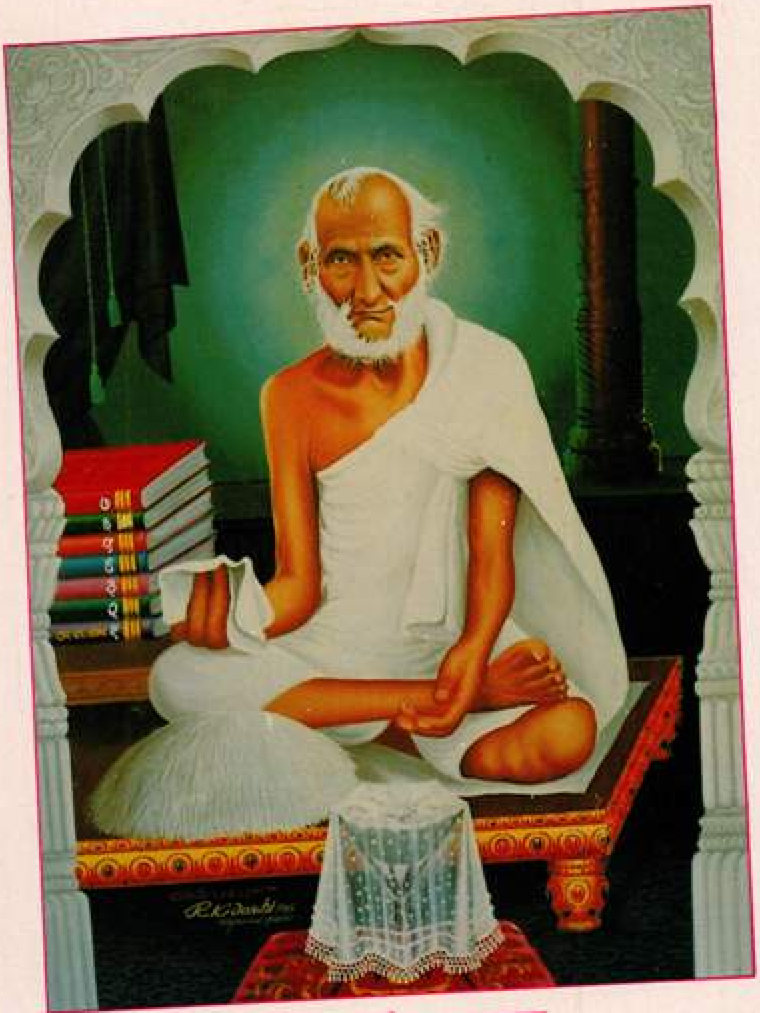

कलिकाल सर्वज्ञकल्प जगत्पूज्य
प्रातःस्मरणीय प्रभु श्रीमद्‌विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी म.सा.

श्री गुणानुरागकुलकम्

स्मरणं यस्य सत्त्वानां, तीव्रपापौघशान्तये।
उत्कृष्टगुणरूपाय, तस्मै श्रीशान्तये नमः।।१।।

अति दुष्प्राप्य मनुष्य जीवन को सफल करने के लिए सब से पहले सद्गुणों पर अनुराग रखने की आवश्यकता है, गुणानुराग हृदय क्षेत्र को शुद्ध करने की महोत्तम वस्तु है। गुणों पर प्रमोद होने के पश्चात् ही सब गुण प्राप्त होते हैं, और सब प्रकार से योग्यता बढ़ती है। इसलिए मद, मात्सर्य, वैर, विरोध, परापवाद, कषाय, आदि को छोड़कर मैत्री, प्रमोद, करुणा, माध्यस्थ्य, और अनित्यादि भावनाओं को धारण कर—परगुण ग्रहण करना तथा गुणानुराग रखना चाहिए; क्योंकि—इसके बिना इतर गुणों का परिपूर्ण असर नहीं हो सकता। अतएव इस ग्रन्थ का उद्देश्य यही है कि—हर एक मनुष्य गुणानुरागी बनें, और दोषों को छोड़ें, इसी विषय को ग्रन्थकार आदि से अन्त तक पुष्ट करेंगे और गुणानुराग का महत्त्व दिखलावेंगे।

—आचार्य जयन्तसेनसूरि, 'मधुकर'

अनुक्रमणिका

- किञ्चिद्‌वक्तव्य — पृष्ठ क्र. ६
- सुकृत सहयोगी — ६
- मङ्गलाचरणम् (पहला कुलग) — १३
- उत्तमगुणाणुराओ (दूसरा कुलग) — १७
  [वैर-१८, मात्सर्य-१६, द्वेष-२०, कलह-२१, मैत्री भावना-२४, प्रमोद भावना-२५, कारुण्य भावना-२६, माध्यस्थ्य भावना-२७]
- ते धन्ना ते प्रन्ना (तीसरा कुलग) — २८
  (वादत्रिपुरी-३२)
- किं बहुणा भणिएणं (चौथा कुलग) — ३५
  (गुणानुराग के बिना पठन व्यर्थ)
- जइ वि चरसि तवविउलं (पाँचवाँ कुलग) — ३८
  (गुणानुराग का महत्व)
- सोऊण गुणुक्करिस (छठा कुलग) — ४३
  (मात्सर्य परित्याग-४४)
- गुणवंताण नराणं (सातवाँ कुलग) — ४६
  (मत्सर से की हुई निन्दा का फल)
- जो जंपइ परदोसे (आठवाँ कुलग) — ४८
  (मत्सरी-मनुष्य पलालपुंज से भी तुच्छ)
- जं अब्भसेइ जीवो (नौवाँ कुलग) — ६०
  (सद अभ्यास की परभव में प्राप्ति) जैसा अभ्यास वैसा असर-६३, सत्पुरुषों के लक्षण-७०, सत्संग की महिमा-७४)
- जो परदोसे गिण्हई (दसवाँ कुलग) — ७७
  (परदोष ग्रहण से पाप का बन्ध)
- तं नियमा मुत्तव्वं (ग्यारहवाँ कुलग) — ८१
  (क्रोध और उसका त्याग-८२, मान कषाय-८४, माया और उसका त्याग-८७)
- जइ इच्छह गुरुअंत (बारहवाँ कुलग) — ६६
  (अज्ञान और ज्ञान-१००)
- चउहा पसंसिणिज्जा (तेरहवाँ कुलग) — १०५
  (पुरुष भेद से निन्दा का निषेध-१०५)

- जे अहम अहम-अहमा (छः प्रकार के पुरुष) (चौदहवाँ कुलग) १०५
- पंचगुब्भऽजुव्वण (सर्वोत्तम पुरुषों का वर्णन) (पन्द्रहवाँ कुलग) ११२
- आजम्मबभयारी (सोलहवां कुलग) ११३
- एवंविहजुवइगओ (उत्तमोत्तम पुरुषों का स्वरूप) (सत्रहवाँ कुलग) १२१
- जम्माम्मि तम्मि न प्रणो (अठारहवाँ कुलग) १२१
- पिच्छिय जुवईरूवं (उत्तम पुरुषों के लक्षण-१२५) (उन्नीसवाँ कुलग) १२५
- साहू वा सड्ढो वा (बीसवाँ कुलग) १२६
- पुरिसत्थेसु पवट्टइ (मध्यम पुरुषों का स्वरूप-१२६) (इक्कीसवाँ कुलग) १२६
- एएसिं पुरिसाणं (चार भेद वाले मनुष्यों की प्रशंसा का फल-१५६) (बाईसवाँ कुलग) १५६
- पासत्थाऽऽइसु अहुणा (सभा के मध्य में निन्दा अथवा प्रशंसा प्रसंग-१६३) (तेईसवाँ कुलग) १६३
- काऊण तेसु करुणं (अधमाधमों को उपदेश देने की तरकीब-१६६) (चौबीसवाँ कुलग) १६६
- संपइ दूसमसमए (बहुमान-प्रसंग-१७०) (पच्चीसवाँ कुलग) १७०
- तनु परगच्छि सगच्छे (स्वगच्छ अथवा परगच्छ के गुणी साधुओं पर अनुराग-१७२) (छब्बीसवाँ कुलग) १७२
- गुणरयणमंडियाणं (गुणों के बहुमान से गुणों की सुलभता-१७५) (सत्ताईसवां कुलग) १७५
- एयं गुणाणुरायं (गुणानुराग का फल-१८४) (अट्ठाइसवाँ कुलग) १८४
- बिन्दु-बिन्दु विचार १८६

प्रथम संस्करण से—

किञ्चिद्वक्तव्य

प्रियपाठक महानुभाव! यह 'गुणानुराग-कुलक' आर्या छन्दों में एक छोटा अठाईस गाथा का प्राकृत-पद्य ग्रन्थ है। इसकी रचना श्रीसोमसुन्दरसूरिजी महाराज के शिष्य पं. श्री जिनहर्षगणिजी ने की है। ग्रन्थ छोटा होने पर भी सारगर्भित और बोधप्रद है।

इसी का यह स्वतन्त्र हिन्दी अनुवाद है। इसमें पहले प्रत्येक गाथा की संस्कृत-छाया, उसका शब्दार्थ, और भावार्थ लिख देने के बाद विस्तृत-विवेचन सरल और सरस हिन्दी भाषा में लिखा गया है, प्रसङ्गप्राप्त कहीं-कहीं दृष्टान्त देकर भी विषय का समर्थन किया गया है।

इस ग्रन्थ पर भिन्न-भिन्न विद्वानों की तरफ से कोई चार-पाँच हिन्दी-गुजराती विवेचन (विवरण) बनकर प्रकाशित भी हो चुके हैं, लेकिन वे चाहिये वैसे नहीं बने हैं, और हैं भी संक्षिप्त ऐसा कह कर हम अपना गौरव दिखलाना नहीं चाहते, किन्तु इतना तो अवश्य कह सकते हैं कि उन सब विवेचनों से यह विवेचन पाठकों को विशेष आनन्ददायक होगा। क्योंकि मूल ग्रन्थकार के आशय को इस विवेचन में अनेक युक्तियों और दृष्टान्तों से रोचक बनाया गया है।

इस विवेचन में इक्कीसवीं गाथा का विवेचन करते हुए मार्गानुसारी ३५ गुणों का वर्णन किया गया है, वह श्रीधर्मसूरिविरचित—धर्मदेशना जो कि गुजराती भाषा में है, उसके चतुर्थ-प्रकरण से ज्यों का त्यों उद्धृत करके रक्खा गया है। उसमें प्रसंगवश किसी-किसी जगह विषय की रोचकता बढ़ाने के लिये अधिक भी वर्णन किया गया है।

यह बात बिलकुल निर्विवाद है कि—'मनुष्य-मनुष्य तभी से बनता है, जब वह दुर्व्यसनों और दुष्टविचारों से अलग होकर अपने जीवन के गम्भीरतम नियमों की न्यायपरायणता को खोजने का प्रयत्न करने लगता है।'

'मनुष्य योग्य, गुणान्वित, पूज्य और अखण्डआनन्दी तभी बनता है, जब वह गुणानुराग का शरण (आसरा) लेता है। संसार में प्रत्येक योग्यता की उन्नतदशा गुणानुराग से ही होती है, और गुणानुराग से ही मनुष्य आदर्श-पुरुष समझा जाता है।'

'संसार में सत्संग करना, विद्याभ्यास करना, लेक्चरार् (एक विषय पर विशिष्ट व्याख्यान-दाता) बनना, नाना प्रकार के तपः कर्म (तपस्या) करना, आदि-आदि जो कार्य किये जाते हैं, उनसे भी मनुष्य जीवन की उत्क्रान्ति (दिनों-दिन चढ़ती) होती है, किन्तु उन सबसे गुणानुरागी बनना विशेष लाभकारक है।'

'मनुष्य ही शक्ति, ज्ञान और प्रेम का स्थूल रूप है, और अपने शुभाशुभ विचारों का स्वामी भी मनुष्य ही है, अतएव वह प्रत्येक उत्क्रान्तदशा की व्यवस्था अपने पास रख सकता है। मनुष्य की निर्बलता व सबलता शुद्धता या अशुद्धता, स्वयं उसी की है, न कि-किसी दूसरे की। उनको वही लाया है, न कि कोई दूसरा। उनको वही बदल सकता है, न कि कोई और। उसके सुख और दुःख उसी में उत्पन्न हुए हैं। जैसा वह विचार करता है वैसा ही वह है, और जैसा विचारता रहेगा वैसी ही उसकी दशा होगी।'

'यह सिद्धान्त निश्चय से समझ लेना चाहिये कि बुराई का प्रतिकार बुराई नहीं है, किन्तु बुराई भलाई से ही जीति जाती है। प्रत्येक मनुष्य के साथ उतनी ही भलाई करो जितनी वे तुम्हारे साथ बुराई करते हों।'

प्रायः इन्हीं सिद्धान्तों का समर्थन करने वाला यह ग्रन्थ और इसका विवेचन है। जो मनुष्य विवेचनगत सिद्धान्तों के अनुसार अपने चालचलन को सुधारेगा, वह संसार में आदर्श-पुरुष बनकर अपना और दूसरों का भला करेगा, और अन्त में सद्‌गुणों के प्रभाव से अखण्डआनन्द का स्वामी बनेगा।

हमें पूर्ण विश्वास है कि इसमें लिखी हुई शिक्षाओं को वाँचने से और मनन करने से अवगुण दोषदृष्टि दूर होगी, तथा प्रत्येक मनुष्यों के प्रशस्य सद्‌गुणों पर अनुराग (हार्दिक-प्रेम) बढ़ेगा। उससे उभयलोक में अपरिमित कीर्ति बढ़ेगी इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है।

इस अमूल्य ग्रन्थ को जैनाचार्य १००८ श्री श्रीमद् **विजयराजेन्द्र सूरीश्वरजी** महाराज के एकादशम वर्ष के स्मरणार्थ श्रीयुत श्रावकवर्य पोरवाड़शा—मोतीजी दलाजी, बागरा मारवाड़ निवासी ने अमूल्य वितरण करने के लिये रतलामस्थ—जैन प्रभाकरयंत्रालय में छपवाकर प्रकाशित किया है, इसलिए उन्हें हार्दिक धन्यवाद देकर, इस वक्तव्य को विश्राम दिया जाता है।

संवत् १९७४ — **मुनियतीन्द्रविजय**
पोष शुक्ल ७ — आहोर (मारवाड़)

विनम्र अनुरोध

इस ग्रन्थ का प्रथम प्रकाशन वि. संवत् १९७४ में किया गया था। हिन्दी अनुवाद की भाषा उस समय की प्रचलित बोल-चाल की भाषा ही थी, अतः अनुवाद उसी के अनुरूप किया गया था। अब द्वितीय-संस्करण वि. संवत् २०५३ में प्रकाशित किया जा रहा है, अतः वर्तमान में सामान्य रूप से प्रचलित शब्दों का समावेश करते हुए कुछ शब्दों को यथा स्थान बदला गया है, किन्तु इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है कि ग्रन्थकार की स्व अनुवाद की भाषा का विलोपन न हो। आशा है विद्वत् पाठक इस मन्तव्य को समझकर इस अद्वितीय गुणानुरागी ग्रन्थ का पठन-पाठन एवम् तदनुसार अनुसरण करते रहेंगे।

अन्तर्मन से

कर्म के क्रम से ग्रथित होता आया है यह संसार, अनुक्रम से चलता रहा है यह संसार! रात और दिन एक क्रम में हैं, तो प्रकाश और अन्धकार भी अपना-अपना दायित्व निभा रहे हैं। एक ओर सज्जनता प्रभावित है तो दूसरी ओर दुर्जनता अविरल गति से चलायमान हो रही है। एक ओर सद्गुणों का अपना साम्राज्य अनादिकाल से चला आ रहा है तो दूसरी ओर दुर्गुणों का आधिपत्य कभी समाप्त न होने की श्रेणी में आ खड़ा हुआ है। बड़ा विषमतापूर्ण यह संसार-चक्र अनन्त-अनन्त काल से चलता रहा है और चलता रहेगा। एक ओर सुगन्ध से संसार सुवासित हो रहा है तो दूसरी ओर दुर्गन्ध से सुगन्ध की सुवास को समाप्त करने की चेष्टा तीव्रता से की जा रही है। यह सब देख कर, सोच कर और मनन कर के ही ज्ञानियों को किंकर्त्तव्यविमूढ़ होना पड़ता है। किन्तु यह सोचकर कि यह तो चल-चला-चल विश्व का दर्शन है, सन्तोष करना पड़ता है।

ऐसी दुविधापूर्ण स्थितियों में जीवन की विधा को कैसे पार लगाया जाए यह सारा का सारा उपक्रम निर्भर करता है व्यक्ति के अपने मन पर। मनुष्य इस धरा का ऐसा अलौकिक प्राणी है कि जिसके पास इच्छा शक्ति का ऐसा विपुल भण्डार है, जिससे वह मन, वचन और कर्म के वेग को जिधर चाहे मोड़ सकता है। इस संसार में हर कोई अपनी ही धुन में चलता रहता है, न वह किसी की सुनता है और न ही किसी की मानता है, किन्तु सद्गुणों से निर्मित इच्छा शक्ति का मानव-मन कभी भी गतिभ्रम नहीं होता। भ्रमित चित्त का व्यक्ति सद्गुणों के अभाव में अपना स्वरूप समझ नहीं पाता है और बेसमझ बन कर जीव, जीवन्त स्थिति के चिन्तन से सर्वथा दूर से दूर होता चला जाता है, यही गति-भ्रम मनुष्य को मनुष्य-जीवन से दूर कर देता है।

अंधकार में भटकने वाले जीव को प्रकाश उपकारी होता है एवम् दुर्गुणग्रस्त व्यक्ति को सद्गुण, सलुणास्वरूप प्रदान कर सकता है।

'सद्गुण' व्यक्ति की श्रेष्ठतम सम्पत्ति है जो विपत्तियों में संरक्षण देती है वहीं सद्गुणों की सुवास जीवन-कमल को महका कर श्रेष्ठ मानव का श्रेय प्रदान करने में सक्षम होती है। सद्गुणों का ग्रहण करना कोई कठिन कार्य नहीं है, यह तो नियमित जीवन-प्रवाह की महत्तम साधना है। इसी साधना के बल पर मनुष्य अनादिकाल से डेरे डाल कर बैठे हुए दुर्गुणों का निष्कासन करने में सफल होता है।

भावों को विभावों अथवा दुर्भावों में बदलने वाले काशायिक परिणामों का जब तक प्रतिवाद नहीं किया जाता है अथवा प्रतिकार नहीं किया जाता है तथा उनकी सम्पूर्ण निरजरा नहीं की जाती है, तब तक मानवीयता स्थिर नहीं हो सकती है। प्रस्तुत ग्रन्थ उन्हीं सद्गुणप्रदायिनी संजीवनी विधाओं से परिपूर्ण है। यह ग्रन्थ मनुष्य को जीने की कला सिखाता है। जीवन को सार्थक बनाकर इस भव से परभव को श्रेष्ठ बनाने का निर्देश देने का अथक प्रयास ही नहीं करता वरन् झंझावातों के समय में अडिग रहने का निर्देश भी देता है। इस ग्रन्थ की महत्ता एवं उपादेयता अद्वितीय है। सम्यक् दृष्टि प्रदायक इस ग्रन्थ के मूल लेखक

श्री जिनहर्षगणिजी म.सा. हैं, जिन्होंने जीवनपर्यन्त कठिन साधना के बल पर 'गुणानुरागकुलक' में मूल स्थिति का निर्माण किया है। इस ग्रन्थ की महत्ता को स्वीकार करते हुए मेरे पूज्य गुरुदेव प्रातःस्मरणीय श्रीमद् विजययतीन्द्र सूरीश्वर जी म.सा. ने विद्वत्तापूर्ण विवेचन प्रस्तुत कर अपने विशाल चिन्तन एवं मनन में ऐक्य स्थापित करते हुए इसे सर्वजनहिताय प्रस्तुत किया है। यह प्रस्तुतीकरण सम्पूर्ण मानव-जगत् पर महत्तम उपकार है, ऐसा समझा जाना चाहिए।

वि. सं. १६६८ में पूज्य गुरुदेव के निर्देश पर इसका प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ था। ग्रन्थ के प्रकाश में आते ही इसका पठन-पाठन, तदनुरूप चिन्तन एवं अनुसरण प्रभावी हो गया था जिससे अनेकानेक सज्जनों के भटके हुए जीवन-क्रम में एक नई चेतना का प्रवाह देखा गया था। तब से लेकर अब तक अनगिनत मुमुक्षुओं ने इस ग्रन्थराज को दैनिक दिनचर्या में नित्य पठन-पाठन का अंग बनाया है।

प्रथम संस्करण की प्रतियाँ शीघ्र ही समाप्त हो गई थीं, तथा बार-बार यह विचार किया जाता रहा कि शीघ्र ही इसका द्वितीय संस्करण प्रकाशित कराया जावे, किन्तु अनेकानेक ज्ञात एवं अज्ञात कारणों से अध्यावधि यह कार्य सम्भव नहीं हो सका, किन्तु शीघ्र प्रकाशित कराने का विचार कभी त्यागा भी नहीं गया। यह एक सुखद अवसर है कि जब इसका द्वितीय संस्करण ऑफसैट मुद्रण प्रणाली से उत्कृष्ट साज-सज्जा से करवा कर गुणानुरागी पाठकों के लिए प्रस्तुत किया जा रहा है।

इस द्वितीय संस्करण को प्रकाशित कराने में मेरा प्रकाशनोपदेश तब सार्थक सिद्ध होगा जब सुविज्ञ पाठक गुणानुरागी बनने का अथक सार्थक प्रयास करेंगे। मुझे आत्मविश्वास है कि मेरा विश्वास खण्डित नहीं होगा, क्योंकि सद्प्रयास कभी भी निष्फल नहीं होते।

सदैव याद रखें, गुण, गुणी को श्रेष्ठ पद का अधिकारी बनाता है। गुणानुरागी व्यक्ति ही गुणग्राही हो सकता है और गुणानुरागी व्यक्ति ही अवगुणों के बन्धन से मुक्त हो सकता है। इसी प्रकार के अनेकानेक दिशा-निर्देशों का यह अद्वितीय ग्रन्थ आपके हाथों में है। देखना यह है कि आप इसे अपने जीवन की धारा को मोड़ते हुए कितना गुणग्राही मानते हैं।

द्वितीय संस्करण के प्रकाशन में सुकृत सहयोगीजनों का अन्तर्मन से आभार मानते हुए तथा मुद्रण प्रक्रिया का सम्पूर्ण भार वहन करने वाले परम गुरुभक्त भाई श्री फतहसिंह जी लोढ़ा, संचालक, यतीन्द्र साहित्य सदन, भीलवाड़ा को मेरा हार्दिक आशीर्वाद है कि जिनके प्रयासों से यह प्रकाशन शीघ्र सम्भव हो सका।

मैं पुनः आश्वस्त हूँ कि मेरे पाठकों के प्रति बने विचार यथावत रहेंगे और वे इस ग्रन्थ को नित्य पठन-पाठन के लिए आवश्यक समझ कर तदनुरूप अनुसरण करने में प्रवृत्त होंगे। इति विस्तरेण।

श्री कोरटाजी तीर्थ [पाली]
पौष वदी २, वि.सं. २०५३
दिनांक २६-१२-१६६६

पं. श्रीजिनहर्षगणिविनिर्मित

श्री गुणानुरागकुलक

द्वितीय-संस्करण के सुकृत सहयोगी

३०० प्रतियाँ शा. छोगमलजी अन्नाजी, रानी स्टे.
१०० प्रतियाँ शा. दीपचन्दजी गुलाबचन्दजी, रानी स्टे.
१०० प्रतियाँ श्री भारतीय इस्पात उद्योग मन्दिर, रानी स्टे.
१०० प्रतियाँ शा. खीमचन्दजी चुन्नीलालजी, रानी स्टे.
१०० प्रतियाँ शा. बाबुलालजी थानमलजी, रानी स्टे.
१०० प्रतियाँ शा. मोतीलालजी मगनमलजी, रानी स्टे.
१०० प्रतियाँ शा. जयन्तीलालजी हीराचन्दजी, रानी स्टे.
१०० प्रतियाँ श्री राजेन्द्रसूरि जैन ज्ञान मन्दिर, रानी स्टे.

मङ्गलाचरणम्

***सयलकल्लाण—निलयं,**
नमिऊणं तित्थनाहपयकमलं।
परगुणगहण—सरूवं,
भणामि सोहग्गसिरिजणयं।१।

शब्दार्थ—(सयलकल्लाण-निलयं) समस्त कल्याण-मंगलकारक शुभ साधनों के स्थान (आश्रय) रूप (तित्थनाहपयकमलं) तीर्थनाथ-जिनेन्द्र भगवान के चरण कमल को (नमिऊणं) नमस्कार कर (सोहग्गसिरिजणयं) सौभाग्य रूप लक्ष्मी को पैदा करने वाले (परगुणगहणसरूवं) परगुण ग्रहण करने का स्वरूप (भणामि) कहता हूँ।

---

*सकलकल्याण-निलयं, नत्वा तीर्थनाथपदकमलम्।
परगुणग्रहणस्वरूपं, भणामि सौभाग्य-श्रीजनकम्।।१।।

भावार्थ—समस्त गुणनिधि और कल्याणों के स्थान जिनेन्द्र भगवान के चरण कमलों को त्रिधा भक्ति से नमस्कार करके परगुण ग्रहण करने का स्वरूप कहा जाता है।

विवेचन—इस संसार में जिनपुरुषों ने सब दोषों को अलग कर उत्तम गुणों को संग्रह किये हैं; वे सब के पूज्य माने जा सकते हैं, और वे ही सब सुखों के आश्रय रूप बनते हैं। साधु साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप संघ के जो संस्थापक हों वे तीर्थनाथ कहे जाते हैं। जिन्होंने अष्टकर्म रूप शत्रुओं के उन्माद से उत्पन्न होने वाले अठारह दोषों को छोड़कर अनुपम अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य संपादन किया है, वे श्री तीर्थनाथ भगवान इस भूमंडल में संपूर्ण गुणनिधि हैं। अर्थात् 'जिन' यह शब्द ही संपूर्ण गुणों का बोधक है, क्योंकि—जो राग, द्वेष आदि दोषों को जीते (क्षयकरे) वह जिन, और उनके दिखलाये हुए मार्ग का जो आचरण करे वह 'जैन' है।

यह बात निश्चयपूर्वक कही जा सकती है कि—जिन में राग द्वेष का अंकुरोद्भव नहीं है, वे पुरुष सदोष मार्ग कभी नहीं बता सकते। वे तो ऐसा निर्दोष मार्ग ही बतावेंगे जो कि सत्य-गुण-संपन्न होने से किसी जगह स्खलना को प्राप्त नहीं होगा; क्योंकि जो पुरुष स्वयं कुसंग से बचकर सर्वत्र निस्पृह हो, सद्गुणमय शुद्धमार्ग पर दृढ़ रहता है, वह सब को वैसा ही शुद्ध मार्ग बतलाता है, जिसके आचरण करने से अनेक भव्यवर्ग गुणवान् हो उत्तम योग्यता को प्राप्त होते हैं।

वस्तुतः राग-द्वेष रहित करुणाशाली महोत्तम पुरुष ही संसार में पूज्य पद के योग्य हैं और ऐसे पुरुषोत्तमों का वन्दन पूजन मनुष्यों को अवश्य गुणानुरागी बनाकर योग्यता पर पहुँचा सकता है। सकल कल्याण के स्थान जिनेन्द्र भगवंतों के चरण कमल में नमस्कार करने से अपने हृदय में सद्गुण की प्रतिभा प्रकाशित होती है, जिसके बल से गुणनिधान हो सेवक ही सेव्य पद की योग्यता को अवलंबन करता है। कहा भी है कि—

इक्को वि नमुक्कारो, जिणवर—वसहस्स वद्धमाणस्स।
संसारसागराओ, तारेइ नरं व नारिं वा।।१।।

भावार्थ—सामान्य केवलज्ञानियों में वृषभ समान (तीर्थङ्कर नाम कर्म के उदय से श्रेष्ठ) श्री वर्द्धमानस्वामी के प्रति बहुत नमस्कार तो

क्या ? किन्तु शुद्धभाव और अनुराग रख कर श्रद्धापूर्वक एक वार भी जो स्त्री अथवा पुरुष नमस्कार करता है, तो उससे वह संसार समुद्र से तर (पार हो) जाता है। तथा सर्वगुणसंपन्न जिनेश्वरों की सेवा भक्ति से ही मनुष्यों में सद्‌गुण प्रकट होते हैं, और उत्तमता प्राप्त होती है।

यहाँ पर यह शंका हो सकती है कि—परमेश्वर तो विद्यमान नहीं हैं, फिर उनके चरण-कमलों में नमस्कार किस प्रकार किया जा सकता है ?

इसके उत्तर में श्री जिनवल्लभसूरिजी महाराज ने लिखा है कि—

तुममच्छिहिं न दीससि, नाराहिज्जसि पभूयपूयाहिं।
किं तु गुरुभत्तिएणं, सुवयणपरिपालणेणं च।।२।।

भावार्थ—हे परमेश्वर ! आप नेत्रों से नहीं दीख पड़ते, और अनेक पूजाओं से भी आपकी आराधना नहीं हो सकती, किन्तु प्रभूत भक्ति (आन्तरिक श्रद्धा) से आपके यथार्थ दर्शन होते हैं और आपके सुवचन परिपालन (आज्ञाऽनुसार वर्त्तने) से आराधना भी भली प्रकार हो सकती है।

इसलिए आन्तरिक श्रद्धा से सिद्धान्तोक्त परमेश्वर की आज्ञाओं का पालन करना चाहिए। क्योंकि परमेश्वर के प्ररूपित जो शास्त्र हैं, वे परमेश्वर की वाणीस्वरूप ही हैं। इससे उन शास्त्रों में जो जो धार्मिक आलम्बन बतलाये हैं, वे आचरण करने के योग्य ही हैं। जैनागमों में स्पष्ट लिखा है कि—चार-निक्षेप के बिना कोई भी वस्तु नहीं है; इसलिए परमेश्वर भी चार निक्षेपसंपन्न है। अत एव स्थापना-निक्षेप के अन्तर्गत परमेश्वर की तदाकार मूर्ति भी परमेश्वर के समान ही है। जिस प्रकार परमेश्वर सब प्राणियों के हितकर्त्ता हैं उसी तरह उनकी प्रतिमा (मूर्ति) भी अक्षयसुख-दायिका है। शास्त्रकारों ने चारों निक्षेपों को समान माना है, उनमें एक को मानना, और दूसरे को नहीं मानना मिथ्यात्व है। जिस तरह अलंकार सहित निर्जीव स्त्रियों का चित्र मनुष्यों के हृदय में विकार पैदा करता है, उसी प्रकार शान्त स्वरूप—परमेश्वर की मूर्ति मनुष्यमात्र के हृदय-भवन में वैराग्य वासना पैदा कर देती है, और

भले प्रकार वंदन पूजन करने से संपूर्ण गुणवान् बना देती है। मूर्ति का अवलंबन शास्त्रोक्त होने से, उसका सेवन व नमस्कार करना योग्य है। वास्तव में उपचरितनयानुसार परमेश्वर के विद्यमान न रहते भी उनकी तदाकार प्रशान्तस्वरूप मूर्ति को परमेश्वर के समान ही मानना निर्दोष मालूम होता है। इससे उनकी वन्दन-पूजन-रूप आज्ञा के आराधन करने से मानसिक भावना शुद्ध होती है, और शुद्ध भावना से शुभ फल प्राप्त होता है।

शास्त्रकारों ने ध्यान के विषय में लिखा है कि वीतराग भगवान या उपचार से उनकी तदाकार प्रतिमा का ध्यान करने से आत्मा वीतराग बनता है, और सरागी का ध्यान करने से सरागी बनता है। क्योंकि—'यथा सङ्गो तथा रङ्गः' जैसा सङ्ग (आलम्बन) प्राप्त होता है, वैसा ही आत्मीय भाव उठता है और उसी के अनुसार उसका आचरण या स्वभाव बना रहता है। अत एव परमेश्वर की वन्दन पूजन रूप आज्ञा को आराधन करने वाला पुरुष तीर्थनाथ के पद को प्राप्त करता है। कहा भी है कि—

वीतरागं स्मरन् योगी, वीतरागत्वमश्नुते।
ईलिका भ्रमरीं भीता, ध्यायन्ती भ्रमरी यथा।।३।।

जिस प्रकार भ्रमरी से मरती हुई ईलिका, भ्रमरी के ध्यान करने से भ्रमरी के समान बन जाती है; उसी प्रकार यह आत्मा वीतराग (तीर्थनाथ) का ध्यान करता हुआ वीतराग पद को धारण करता है। इससे हितेच्छु पुरुषों को परहितरत, मोक्षमार्ग दाता, इन्द्रों से पूजित, त्रिभुवनजनहितवाञ्छक और सामान्य केवल-ज्ञानियों के नायक तीर्थनाथ का वन्दन पूजन अवश्य करना चाहिए। क्योंकि—सब उत्तम मङ्गलों का मुख्य कारण एक आज्ञापूर्वक तीर्थनाथ के चरणयुगल का वन्दन पूजन ही है।

नमस्कार करने का मुख्य हेतु यह है कि—निर्विघ्न ग्रन्थसमाप्ति और सर्वत्र शान्ति प्रचार हो अर्थात् 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' इस उक्ति की निरर्थकता हो, किन्तु यह बात तभी हो सकती है कि—जब आज्ञा की आराधनापूर्वक भाव नमन, या पूजन किया गया हो।

सब श्रेयकार्यों की साधिका एक जिनाज्ञा ही है, क्योंकि शास्त्रों में जगह-जगह पर 'आणामूलो धम्मो' यह निर्विवाद वचन लिखा है।

अतएव—इसके पालन से गुणानुराग का बीज आरोपित होता है, और मात्सर्य आदि दोषों को छोड़ने से वह बीज वृद्धि को प्राप्त होता है।

केवल द्रव्यनमस्कार ही से आत्महित और सद्गुण प्राप्त नहीं होते ?, किन्तु भावनमन से होते हैं। भावनमन (नमस्कार) जिनेन्द्रों की यथार्थ आज्ञा पालन करना ही है।

अत एव जिनाज्ञा पूर्वक भाव नमस्कार कर ग्रन्थकर्ता श्रीमान् पं. श्री जिनहर्षगणिजी महाराज दूसरों के सद्गुण ग्रहण करना अथवा उन पर अनुराग—मानसिक प्रेम रखना; इस विषय का उपदेश देते हैं, और साथ-साथ गुणानुराग का महत्त्व और उसके प्रभाव से जो कुछ गुण प्राप्त होते हैं उनको भी दिखलाते हैं।

● ● ●

संसार में जितनी पदवियाँ हैं, वे सब गुणानुराग रखने से ही प्राप्त होती हैं—

***उत्तमगुणाणुराओ,**
निवसइ हियए तु जस्स पुरिसस्स
आ-तित्थयरपयाओ,
न दुल्लहा तस्स रिद्धीओ।।२।।

शब्दार्थ—(जस्स) जिस (पुरिसस्स) पुरुष के (हियए तु) हृदय में (उत्तमगुणाणुराओ) उत्तम गुणों का अनुराग-प्रेम (निवसइ) निवास करता है (तस्स) उस पुरुष को (आ-तित्थयरपयाओ) तीर्थंकर पद से लेकर सब रिद्धियाँ-संपत्तियाँ (दुल्लहा) दुर्लभ-मुश्किल (न) नहीं हैं।

भावार्थ—जो महानुभाव दूसरों के सद्गुणों पर हार्दिक प्रेम-रखते हैं, उनको चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव, प्रतिवासुदेव, माण्डलिक आदि संसारिक महोत्तम पदवियाँ; और तीर्थंकर, गणधर, आचार्य, उपाध्याय, गणी, गणावच्छेदक, स्थविर आदि लोकोत्तर महोत्तम पदवियाँ सहज ही में (विना परिश्रम) प्राप्त होती हैं, परन्तु

*उत्तमगुणानुरागो, निवसति हृदये तु यस्य पुरुषस्य।
आ-तीर्थंकरपदात्, न दुर्लभास्तस्यऋद्धयः।।२।।

गुणानुराग उत्तम प्रकार का होना चाहिए, जिसमें कि किंचिन्मात्र विकार न हो।

विवेचन—वैर, मात्सर्य, द्वेष, और कलह इन चार दुर्गुणों का प्रादुर्भाव जब तक हृदयक्षेत्र में रहता है, तब तक गुणों पर अनुराग नहीं होने पाता; इससे प्रथम इन्हीं दुर्गुणों का त्याग करना चाहिए।

❀ वैर ❀

वैर एक ऐसा दुर्गुण है; जो प्रचलित संप (मिलाप) में विग्रह खड़ा कर देता है। वैर रखने वाले मनुष्यों को शास्त्रकारों ने अधमप्रकृतिवालों में माना है। सकारण या निष्कारण किसी के साथ वैर रखना निकाचित कर्मबन्ध का कारण है। वैर के प्रसंग से दूसरे अनेक दोषों का प्रादुर्भाव होता है, जिससे भवभ्रमण के सिवाय और कुछ फ़ायदा नहीं मिलता। अनादि काल से इन्हीं दोषों के सबब से यह चेतन महादुःखी हुआ, और पराभव के वश पड़ निजगुण को भूल गया। यहाँ तक कि—तन, धन, स्वजन और कुटुम्ब से विमुख हो नरक गति का दास बना। सूत्रकृताङ्गजी में सुधर्मस्वामी फ़रमाते हैं कि—

'वैराणुबंधीणि महब्भयाणि'

वैर विरोध के अनुबन्ध (कारण) महाभय उत्पन्न करते हैं और वे भय मनुष्यों (प्राणिमात्र) को अन्तराय किये बिना नहीं रहते। वैर भयङ्कर अग्नि है; जिस प्रकार अग्नि का स्वभाव सब को भस्म करने का होता है। उसी प्रकार वैर भी आत्मीय सब गुणों का नाश कर दुर्गति का पात्र बना देता है, और प्राप्त गुणों को नष्ट कर देता है। हृदय क्षेत्र में वैर का असर रहता है जब तक दूसरे गुणों का असर नहीं होने पाता, और किंचिन्मात्र सुखानुभव भी नहीं हो सकता।

इसलिए वैर सब सद्गुणों का शत्रुभूत और संसारवर्द्धक है; ऐसा समझ कर कल्याणार्थी—महानुभावों को दुःखमय संसार से छूटने के निमित्त सद्गुणी बनकर नित्यानन्द प्राप्ति के लिए इस प्रकार की प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि—

'मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झं न केणइ।'

देव, दानव, आर्य, अनार्य, स्वधर्मी, विधर्मी, स्वगच्छीय, परगच्छीय, आदि सब प्राणियों के साथ मेरा मैत्रीभाव है, परन्तु

किसी के साथ वैरभाव नहीं है। क्योंकि—सब के साथ आन्तरिक प्रेम रखना ही मनुष्य का परम कर्त्तव्य है; अगर किसी के साथ धार्मिक विषय में जो कुछ बोलना सुनना पड़े तो उसके साथ अत्यन्त मधुर वचनों से व्यवहार करना चाहिये, जिससे अपने कहने का असर उस पर जल्दी होवे। बहुत से लोग सत्य और असत्य बात का विचार न कर धार्मिक वैर-विरोध खड़े करते हैं और ममत्व के आवेश में वशीभूत हो, तड़ें पाड़ कर जाति में कुसंप (भेद) डाल देते हैं। परन्तु वस्तुतः यह सब प्रपञ्च अवनतिकारक और दुर्गतिदायक ही है। ऐसे वैर विरोध खड़े करने से संसार में किसी को लाभ नहीं हो सकता, बल्कि अपनी और दूसरों की हानि ही होती है। हमारे आचार्यवर्य्यों का तो यही उपदेश है कि—वैर विरोध करना बहुत हानिकारक है, वैर विरोध से ही कौरव और पांडव अपनी राज्य और कुटुम्ब संपत्ति आदि से विमुख हुए। सैंकड़ों राजा, महाराजा, सेठ, साहूकार, वैर विरोध के आवेश में आकर दुर्गति के पात्र बन मनुष्यजीवन को हार गये। वस्तुतः देखा जाय तो वैर बड़ा भारी दुर्गुण होने से समग्र दुःखों का स्थान है। इसलिए वैर विरोध बढ़ाकर सर्वत्र अशान्ति फैलाने के समान कोई भी अधर्म नहीं है, और न इसके तुल्य कोई अधमता है। वैरकारक मनुष्य अनेक जीवों को दुःख देता हुआ स्वयं नाना दुःखों को उपार्जन करता है। इस भव में अनेक दुःखदायी कर्म बाँधता है और पर भव में भी नरक, तिर्यञ्च आदि स्थानों में जाता है फिर वहाँ वैरानुबंधी बध बन्धन आदि कर्मों का अनुभव करता है। अतएव सब दुःखों का मूल कारण वैरभाव है उसको परित्याग कर देना ही बुद्धिमान पुरुषों को उचित है।

❀ मात्सर्य ❀

दूसरा दुर्गुण 'मात्सर्य' है, मत्सरी मनुष्य निरन्तर आकुल व्याकुल बना रहने से क्षण मात्र भी सुखी नहीं रहता; इस कारण सद्-असद् वस्तु का विचार भी नहीं कर सकता है। इससे उसको सद्गुण या सद्गुणों पर अनुराग नहीं होने पाता और वह हमेशा कृश—(दुर्बलसा) बन, असंख्य दुःखों का पात्र बना रहता है। इसलिए आत्महितेच्छुओं को इस दुर्गुण का भी त्याग करना उचित है।

❀ द्वेष ❀

तीसरा दुर्गुण 'द्वेष' है, यह द्वेष सारे सद्गुणों का शत्रुभूत है। यही दुर्गुण आत्मीय-ज्ञानादि महोत्तम गुणों को नष्ट कर देता है। यदि संसार में राग और द्वेष ये दो दुर्गुण नहीं होते तो सर्वत्र शान्ति का ही साम्राज्य बना रहता। क्योंकि—संसार में जितने बखेड़े हैं वे सब रागद्वेष के संयोग से ही हैं। कहा भी है कि—

रागद्वेषौ यदि स्यातां, तपसा किं प्रयोजनम्।
रागद्वेषौ तु न स्यातां, तपसा किं प्रयोजनम्।।१।।

भावार्थ—इस आत्मा में यदि राग और द्वेष ये दो दोष स्थित हैं तो फिर तपस्या करने से क्या लाभ हो सकता है ?। अथवा यदि राग और द्वेष ये दोष नहीं हैं तो तपस्या करने से क्या प्रयोजन है ?।

जीव को संसार में परिभ्रमण कराने वाले तथा नाना दुःख देने वाले राग और द्वेष ही हैं, इसलिए इन्हीं को नष्ट करने के निमित्त तमाम धार्मिक क्रिया अनुष्ठान (तपस्या, पठन, पाठनादि) किया जाता है। परन्तु जिनके हृदय से ये दोष अलग नहीं हुए, वे चाहे कितनी ही तपस्या आदि क्रिया करें किन्तु द्वेषाग्नि से वे सब भस्म हो जाती हैं अर्थात्—उनका यथार्थ फल प्राप्त नहीं हो सकता। द्वेषी मनुष्य के साथ कोई प्राणी प्रीति करना नहीं चाहता, और न कोई उसको कुछ सिखाता-पढ़ाता है। अगर किसी तरह वह कुछ सीख भी गया तो द्वेषावेश से सीखा हुआ नष्ट हो जाता है। क्योंकि—द्वेषी मनुष्य सदा अविवेकशील बना रहता है, इससे वह पूज्य पुरुषों का विनय नहीं सांचव सकता; और न उनसे कुछ गुण ही प्राप्त कर सकता है। यदि कोई उपकारी महात्मा उस को कुछ सिखावे भी तो वह सिखाना उसमें ऊषरभूमिवत् निष्फल ही है। कहा भी है कि—

उपदेशो हि मूर्खाणां, प्रकोपाय न शान्तये।
पयः पानं भुजङ्गानां, केवलं विषवर्द्धनम्।।२।।

भावार्थ—मूर्खलोगों (द्वेषीमनुष्यों) को जो उपदेश देना है वह केवल कोप बढ़ाने वाला ही है, किन्तु शान्तिकारक नहीं है। जैसे—सर्पों को दूध का पान कराना केवल विष (जहर) बढ़ाने वाला ही होता है।

वर्त्तमान समय में हमारे जैनभाइयों ने इस दुर्गुण को मानों अपना एक निजगुण मान रक्खा है। इसी से जहाँ देखते हैं, वहाँ प्राय: द्वेषभाव के सिवाय दूसरा कुछ भी गुण दृष्टिपथ नहीं आता। गच्छों के ममत्व में पड़ कर अथवा क्रियाओं के व्यर्थ झखड़ों में पड़ कर परस्पर एक दूसरे को 'उत्सूत्रभाषी' 'अविवेकी' 'अज्ञानी' 'भवाभिन्दी' आदि संबोधनों से संबोधित कर द्वेषभाव बढ़ाते हैं और द्वेषावेश में गुणीजनों (महात्माओं) की भी आशातना कर व्यर्थ कर्म बाँधते हैं।

यह 'जैनधर्म' सर्वमान्य धर्म है, इसके संस्थापक सर्वज्ञ सर्वदर्शी वीतराग भगवान हैं, जो स्वयं राग और द्वेष रहित थे। और दूसरों को भी राग द्वेष रहित उपदेश देते थे; जैन मात्र उन्हीं के सदुपदेशों के ग्राहक और उनके वचन पर श्रद्धालु हैं। परन्तु खेद की बात है कि—आज दिन उन्हीं जैनों ने अपने निजस्वरूप को छोड़ राग द्वेष के आवेश में आकर भगवान के उपदेश को विस्मरण कर दिन पर दिन परस्पर निन्दा कर द्वेषभाव फैलाते हैं, अर्थात्—श्वेताम्बरी दिगम्बरियों की और दिगम्बरी श्वेताम्बरियों की, स्थानकपन्थी मन्दिरमार्गियों की, तथा मन्दिरमार्गी स्थानकपन्थियों की, तेरहपन्थी ढूँढियों की और ढूँढिये तेरहपन्थियों की, अश्लील (अवाच्य) शब्दों से निन्दा कर द्वेष भाव बढ़ाते हैं, परन्तु वास्तविक तत्त्व क्या है ? इस बात का विचार नहीं कर सकते।

जैनी महानुभावो ! यह तुम्हारी उन्नति तथा वृद्धि होने का और सद्गुण होने का मार्ग नहीं है, यह तो केवल अवनति का और अज्ञानी बनने का ही मार्ग है। आचार्यवर्य बहुश्रुतगीतार्थ-शिरोमणी-भगवान् श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराज धार्मिक शिक्षा देते हुए लिखते हैं कि—

'एस पओसो मोहो, विसेसओ जिणमयठियाणं'

'धर्म के निमित्त अन्य किसी धर्मवाले के साथ द्वेषभाव रखना एक प्रकार का अज्ञान है, किन्तु जिनेन्द्रमत में स्थित पुरुषों को तो विशेषत: अज्ञान का कारण है' इस वास्ते राग द्वेष के वश न हो सत्य (सद्गुण) के ओर ही मन को आकर्षित रखना उचित है। क्योंकि—'जबलों राग द्वेष नहीं जितहि, तबलों मुगक्ति न पावे कोई' जब तक राग द्वेष नहीं जीता जायेगा तब तक मुक्ति सुख नहीं मिल

सकता, न हृदयक्षेत्र की शुद्धी हो कर गुणानुराग का अंकुर ही ऊग सकता है।

❀ कलह ❀

चौथा दुर्गुण 'कलह' है; जो कुसंप बढ़ाने का मुख्य हेतु है। यह वात तो निश्चय पूर्वक कही जा सकती है कि—जहाँ संप नहीं है, जहाँ मिलन स्वभाव नहीं है, जहाँ सभी नेता हैं, जहाँ कोई किसी की आज्ञा में नहीं चलता, अथवा जहाँ मनमाने कार्य करने वाले हैं, वहाँ संपति और सद्‌गुणों का अभाव ही है। लोगों की कहावत है कि—

जहँ सब संप रमत हैं, तहँ सुखवास लहरी।
जहँ चलत फूट फजीता, तहँ नित टूट गहरी।।१।।

यह कहावत बहुत ही उत्तम है, क्योंकि—जिसके यहाँ कलह (कुसंप) उत्पन्न हुआ कि उसका दिनों दिन घाटा ही होगा, परन्तु उसका अभ्युदय किसी प्रकार नहीं हो सकता। क्योंकि—कलह करने वाला मनुष्य सब किसी को अप्रिय लगता है इससे उसके साथ सब कोई घृणा रखते हैं, अर्थात् उसको अनादर दृष्टि से देखा करते हैं। अत एव जहाँ संप है, अर्थात्—जहाँ सब कोई संप सलाह से वर्त्ताव रखते हैं, वहाँ अनेक संपत्तियाँ स्वयं विलास किया करती हैं।

निर्बल संघ भी अगर संपीला हो तो बड़े बड़े वलिष्ठों से भी उस की हानि नहीं हो सकती। और जो सबल संघ (समुदाय) कुसपीला होगा तो वह एक निर्बल तुच्छ मनुष्य से भी परावभ को प्राप्त हो सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि—संप से जितना कार्य सिद्ध होगा उतना कलह से कभी नहीं हो सकता। क्योंकि—कलह सब संपत्तियों का विनाशक है, और कार्य सिद्धि का शत्रु है।

इसलिये हर एक की उन्नति अपनी-अपनी ऐक्य (संप) के ऊपर स्थित है। जो इस ऐक्य के सूत्र को छिन्न भिन्न करते हैं वे मानो कट्टर शत्रु को अपने घर में निवास कराते हैं, क्योंकि—विना छिद्र पाये शत्रु घर के अन्दर प्रवेश नहीं कर सकता। तो यदि सब एक प्राण हो भ्रातृभाव धारण कर सत्य मार्ग को प्रकाशित करें तो किसका सामर्थ्य है कि उनके अंगीकार किये हुए मार्ग पर ठवका लगा सके। जो लोग कलह के वश में पड़े हैं, वे हजार उपाय करें तो

भी इतरजनों से परास्त हुए बिना नहीं रहेंगे अर्थात्—सब जगह उनकी हार ही होगी।

पञ्चतंत्र के तीसरे तंत्र में लिखा है कि—

लघूनामपि संश्लेषो, रक्षायै भवति ध्रुवम्।
महानप्येक जो वृक्षो, बलवान् सुप्रतिष्ठितः।।१।।
सुमन्देनापि वातेन, शक्यो धूनयितुं यतः।
एवं मनुष्यमप्येकं, शौर्येणापि समन्वितम्।।२।।
शक्यं द्विषन्तो मन्यन्ते, हिंसन्ति च ततः परम्।
बलिनाऽपि न बाध्यन्ते, लघवोऽप्येकसंश्रयात्।।३।।
प्रभञ्जनविपक्षेण, यथैकस्था महीरुहाः।

भावार्थ—संप के सद्गुण से बल हीन मनुष्य भी सब प्रकार से अपनी रक्षा कर सकता है, जैसे—यदि वृक्ष सघन न लगे हों दूर-दूर पर लगे हों, तो उन (वृक्षों) को अल्प पवन भी हिला सकता है; उसी प्रकार बलवान समुदाय में जो ऐक्य का बन्धन न हो, तो उस प्रबल समुदाय को साधारण मनुष्य भी पराजित कर सकता है और सघन (सटे हुए) छोटे-छोटे वृक्षों को जिस प्रकार प्रबल पवन भी बाधा नहीं पहुँचा सकता अर्थात्—हिला नहीं सकता; उसी प्रकार दुर्बल मनुष्य भी जो ऐक्य में स्थित हो जायँ तो उनको बलवान् समुदाय भी बाधा नहीं कर सकता।

इसी से कहा जाता है कि—किंचिन्मात्र भी कलह (कुसंप) गुणों का नाशक है, ऐसा समझकर कलह को छोड़ना ही अत्युत्तम है।

एक समय वह था कि जिसमें अनेक भाग्यशाली शासनप्रभावक आचार्य और साधु तथा श्रावक परस्पर एक दूसरों के धर्मकार्यों से प्रसन्न रहते थे और अपरिमित मदद देकर एक दूसरे को उत्साहित करते थे। उस समय हमारे जैन धर्म की कितनी उन्नति झलकती थी और अभी की अपेक्षा जैनों की कितनी वृद्धि होती थी?। इस विषय का जरा सूक्ष्म बुद्धि से विचार किया जाय तो यही मालूम पड़ता है कि—उस समय में ऐक्यता का बन्धन प्रशंसनीय था जिससे वे महानुभाव अपनी-अपनी उन्नति करने में कृतकार्य होते थे अतएव—

महानुभावो! परस्पर के कुसम्प बीजों को जलाञ्जली देकर जैनधर्म की उन्नति करने में परस्पर ऐक्यता रक्खो और परापवाद आदि दुर्गुणों को छोड़ो जिससे फिर जैनधर्म और जैन जाति का प्रबल अभ्युदय होवे क्योंकि—ऐक्यता ही सम्पूर्ण उन्नति मार्ग में प्रवेश कराने वाला अमूल्य रत्न है।

इस प्रकार इन चारों दुर्गुणों को दुःखदायी समझकर समूल परित्याग करने से हृदयक्षेत्र शुद्ध होता है और उसमें प्रत्येक सद्गुण उत्पन्न होने की योग्यता होती है। वैर आदि दुर्गुणों का अभाव होते ही शान्ति आदि सद्गुण बढ़ने लगते हैं। अर्थात्—सब संसार में शान्ति फैलाने वाली और कुसंप को समूल नष्ट करने वाली मैत्री १, प्रमोद २, कारुण्य ३, और माध्यस्थ ४ ये चार महोत्तम भावनाएँ पैदा होती हैं। जिनका स्वरूप योगशास्त्र के चौथे प्रकाश में इस प्रकार कहा है कि—

❀ मैत्री भावना ❀

मा कार्षीत्कोऽपि पापानि, मा च भूत्कोवपि दुःखितः।
मुच्यतां जगदप्येषा, मतिर्मैत्री निगद्यते।१२८।

भावार्थ—समस्त प्राणियों में कोई भी पापों को न करे, और न कोई प्राणी दुःखी रहे तथा समस्त संसार, कर्मों के उपभोग से मुक्त हो जायँ; इस प्रकार की बुद्धि का नाम 'मैत्री भावना' है।

विवेचन—जो मनुष्य ऐसा विचार करता है कि—कोई प्राणी पाप न करे, अर्थात् पाप करने से कर्म बन्ध होता है जिसका परिणाम अनिष्टगति की प्राप्ति है, वह मैत्री भावना रखने वाला कहा जाता है, या कोई दुःखी न हो, जिसकी हृदय में ऐसी भावना है वह पुरुष परम दयालु होने से स्वयं सुखी रहता है और दूसरों को भी सुख पहुँचाने की चेष्टा करता है, जिसका परिणाम उत्तम गति है। तथा 'जगत् के सभी जीव मुक्त हो जावें' जिसकी ऐसी भावना है, वह परम कृपालु स्वयं मुक्त होने वाला और दूसरे लोगों को सदुपदेश देकर मुक्त करने वाला होता है, क्योंकि जगत् का कल्याण चाहने वाला पुरुष असद् मार्ग से कोसों दूर रहता है और अपने समागम में आये हुए लोगों को गुणी बनाता है।

महानुभावो! संसार में ऐसी कोई भी जाति अथवा योनि या स्थान किंवा कुल नहीं है, जहाँ कि यह जीव अनन्त बार उत्पन्न और मृत्यु को प्राप्त न हुआ हो। इसी से कहा जाता है कि 'सव्वे सयणा जाया, सव्वे जीवा य परजणा जाया।' अर्थात्—सब प्राणी परस्पर स्वजन सम्बन्धी हुए और सभी जीव परजन अर्थात्—अपने से प्रेम नहीं रखने वाले भी हुए। अत एव एकेन्द्रिय जीवों से लेकर पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त सभी जीवों के साथ हार्दिक प्रेम रखना चाहिये; किन्तु किसी के साथ राग-द्वेष परिणाम रखना ठीक नहीं है।

❀ प्रमोद भावना ❀

अपास्ताशेषदोषाणां, वस्तुतत्त्वावलोकिनाम्।
गुणेषु पक्षपातो यः, स प्रमोदः प्रकीर्त्तितः।१२६।

भावार्थ—संपूर्ण दोषों को हटा कर सूक्ष्म-विचार से वस्तु के तत्त्व को अवलोकन करने वाले मनुष्यों के गुणों पर जो पक्षपात रखना वह 'प्रमोद भावना' कही जाती है।

विवेचन—संसार में सौजन्य, औदार्य, दाक्षिण्य, स्थैर्य, प्रियभाषण, परोपकार आदि सद्गुणों से विभूषित जो लोग हैं उनके गुणों पर पक्षपात—रखना चाहिये। क्योंकि—उनके गुणों का पक्षपात करने से आत्मा सद्गुणी बनता है। जो लोग गुणीजनों के गुणों का बहुमान करते हुए उनकी प्रशंसा बढ़ा कर आत्मा को पवित्र बनाते हैं वे स्वयं गुणवान् होते हैं।

किसी के अभ्युदय को देखकर अमर्ष (ईर्ष्या) करने के समान संसार में कोई पाप नहीं है। वस्तुतः देखा जाय तो गुणद्वेषी मनुष्य महानिन्दनीय कर्म बाँध कर संसार कान्तार में पशु की तरह परिभ्रमण करता रहता है और अनन्त जन्म मरण आदि दुःख सहन करता है। बुद्धिमान पुरुषों को हर एक कार्य करते हुए विचारना चाहिये कि यह कार्य वर्त्तमान और अनागत काल में लाभ कारक होगा या नहीं? अगर लाभ कारक मालूम पड़ता हो तो उस कार्य में हस्ताक्षेप करना चाहिये। यदि हानि होती हो तो उससे अलग रहना चाहिये। अतएव महानुभावो! परदोषों को देखना छोड़ो और गुणीजनों के गुणों को देख कर हृदय से आनन्दित रहो। कहा भी है कि—

लोओ परस्स दोसे, हत्थाहत्थिं गुणे य गिणहंतो।
अप्पाणमप्पण च्चिय, कुणइ सदोसं च सगुणं च।।

भावार्थ—जो मनुष्य दूसरों के दोषों को ग्रहण करता है वह अपनी आत्मा को अपनी ही आत्मा से दोषवाला बनाता है, और जो स्वयं दूसरों के गुण ग्रहण करता है वह अपनी आत्मा को स्वयं सद्गुणी बनाता है। क्योंकि—गुणीजनों के गुणों का पक्षपात करने वाला पुरुष इस भव और परभव में शरदऋतु के चन्द्रकिरणों की तरह अत्युज्ज्वल गुणसमूह का स्वामी बनता है।

❀ कारुण्य भावना ❀

दीनेष्वार्तेषु भीतेषु, याचमानेषु जीवितम्।
प्रतीकारपरा बुद्धिः, कारुण्यमभिधीयते।।१३०।

भावार्थ—दीन, पीड़ित, भयभीत और जीवित की याचना करने वाले मनुष्यादि प्राणियों के दुःखों का प्रतीकार करने की जो बुद्धि हो, उसका नाम 'कारुण्य भावना' है। विवेचन—दुःखी प्राणियों के दुःख हटाने में प्रयत्नशील रहना मनुष्य का मुख्य कर्त्तव्य है। जो लोग दया के पात्र हैं, उनके दुःखों को यथाशक्ति मिटाने वाला पुरुष भवान्तर में अनुपम सुखसौभाग्य का भोक्ता होता है, इसलिये दीन-हीन, पीड़ित और भयभीत प्राणियों को देखकर धर्मात्मा पुरुषों को दयार्द्रचित्त रहना चाहिये। क्योंकि—जिसके हृदय में कारुण्यभावना स्थित है, वह पुरुष सबको सन्मार्ग में चलाने पर कटिबद्ध रहता है।

अनेक लोग किसी को शिक्षा देते समय लोगों की निन्दा और अवगुण प्रकट करते हैं, परन्तु ऐसा करने से कोई सद्गुणी नहीं बन सकता। संसार में सर्वगुणी वीतराग भगवान के सिवाय दूसरा कोई प्राणी नहीं हैं, कोई अल्प दोषी है तो कोई विशेष दोषी। इससे प्राणी मात्र के दोषों पर दृष्टि न डाल कर उन्हें शान्ति पूर्वक सुधारने की चेष्टा रखना चाहिये जिससे वे सद्मार्ग में प्रवृत्ति कर सकें। अत एव प्रत्येक समय और अवस्था में कारुण्यभाव रखकर दयापात्र प्राणियों के दुःख मिटाने में प्रयत्न करो जिसका परिणाम उभय लोक में उत्तम हो। कहा भी है कि—

परपरिभवपरीवादा—दात्मोत्कर्षाच्च बध्यते कर्म।
नीचैर्गोत्रं प्रतिभव—मनेकभवकोटिदुर्मोचम्।१३१।

भावार्थ—दूसरों का तिरस्कार (अपमान) तथा दूसरों की निन्दा और आत्मप्रशंसा से नीच गोत्र नामक कर्म का बन्ध होता है, जो अनेक भवकोटी पर्यन्त दुर्मोच हो जाता है अर्थात्—बहुत मुस्किल से छूट सकता है। इसलिये परनिन्दा, परापमान और आत्मोत्कर्ष को सर्वथा छोड़कर आत्मा को कारुण्यभावना से प्रभावित करना चाहिये।

❀ माध्यस्थ्य भावना ❀

क्रूरकर्मसु निःशङ्कं, देवतागुरुनिन्दिषु।
आत्मशंसिषु योपेक्षा, तन्माध्यस्थ्यमुदीरितम्।१३२।

भावार्थ—निःशङ्क होकर क्रूर कर्म करने वाला, तथा देवता और गुरु की निन्दा करने-वाला, एवं आत्मश्लाघा (अपनी प्रशंसा) करने वाला निकृष्ट जीव माना गया है, ऐसे जीवों पर भी अपेक्षा करना 'माध्यस्थ्य भावना' मानी गयी है।

विवेचन—संसार में लोग भिन्न-भिन्न प्रकृतिवाले होने से परभव में होने वाले दुःखों की परवाह न कर कुत्सितकर्म (निन्दनीयव्यापार) या देव गुरु की निन्दा और अपनी प्रशंसा तथा दूसरों का अपमान करने में उद्यत रहते हैं। परन्तु उन पर बुद्धिमानों को समभाव रखना चाहिये, किन्तु उनकी निन्दा करना अनुचित है। जिनेश्वरोंने यथार्थरूप से वस्तुस्वरूप दिखलाने की मना नहीं की किन्तु निन्दा करने की तो सख्त मनाई की है। सदुपदेश देकर लोगों को समझाने की बहुत आवश्यकता है, परन्तु हित शिक्षा देने पर यदि कषायभाव की बहुलता होती हो तो मध्यस्थभाव रखना ही लाभकारक है। अतएव निन्दा विकथा आदि दोषों को सर्वथा छोड़कर निन्दक और उद्धत मनुष्यों के ऊपर मध्यस्थभाव रखना चाहिये और यथाशक्ति समभाव पूर्वक हर एक प्राणी को हित शिक्षा देना चाहिये।

इस प्रकार कलहभाव को छोड़ने से मनुष्यों के हृदय भवन में चार सद्भावनाएँ प्रकट होती हैं और इन सद्भावनाओं के प्रभाव से मनुष्य सद्गुणी बनता है।

• • •

सर्वत्र 'गुणानुराग' ही प्रशंस्य है, इससे इसी को धारण करना चाहिये—

***ते धन्ना ते पुन्ना,**
तेसु पणामो हविज्ज मह निच्चं।
जेसिं गुणाणुराओ,
अकित्तिमो होइ अणवरयं।।३।।

शब्दार्थ—(ते) वे पुरुष (धन्ना) धन्यवाद देने योग्य हैं (ते) वेही (पुन्ना) कृतपुण्य हैं (तेसु) उनको (मह) मेरा (निच्चं) निरन्तर (पणामो) नमस्कार (हविज्ज) हो। (जेसिं) जिनके हृदय में (अकित्तिमो) स्वाभाविक (गुणाणुराओ) गुणानुराग (अणवरयं) हमेशा (होइ) होता है—बना रहता है।

भावार्थ—जिन पुरुषों के हृदय में दूसरों के गुणों पर हार्दिक अनुराग बना रहता है, वे पुरुष धन्यवाद देने योग्य हैं, और कृतपुण्य हैं तथा वे ही नमस्कार करने योग्य हैं।

विवेचन—गुणानुरागी महानुभावों की जितनी प्रशंसा की जाय उतनी ही थोड़ी है। इसलिये जो दूसरों के गुणों को देख कर उन पर प्रमोद धारण करता है, उसके बराबर दूसरा कोई कृतपुण्य और पवित्रात्मा नहीं है। मत्सरी मनुष्य परगुण ग्रहण करने की सीमा तक नहीं पहुँच सकता, इससे उस मत्सरी के हृदय में गुणों पर अनुराग नहीं उत्पन्न होता। अत एव जिन पुरुषों के हृदय—भवन में यथार्थ गुणानुराग बना रहता है, उनकी इन्द्रभवन में भी स्तुति की जाती है और उन (गुणानुरागी) को सब कोई नमस्कार किया करते हैं। महात्मा भर्तृहरि ने लिखा है कि—

वाञ्छा सज्जनसङ्गमे परगुणे प्रीतिर्गुरौ नम्रता,
विद्यायां व्यसनं स्वयोषिति रतिर्लोकापवादाद्भयम्।
भक्तिः स्वामिनि शक्तिरात्मदमने संसर्गमुक्तिः
खलेष्वेते येषु वसन्ति निर्मलगुणास्तेभ्यो नरेभ्यो नमः।

---

*ते धन्यास्ते पुण्यास्तेषु प्रणामो भूयान्मम नित्यम्।
येषां गुणानुरागोऽकृत्रिमो भवत्यनवरतम्।।३।।

भावार्थ—सज्जनों के समागम में वाँछा, दूसरों के सद्गुणों पर प्रीति, गुरुवर्य में नम्रता, विद्या में व्यसन, अपनी स्त्री में रति* लोकापवाद से भय, अपने स्वामी में भक्ति, आत्मदमन करने में शक्ति, खल (दुर्जन) लोगों के सहवास का त्याग, ये निर्मल आठ गुण जिन पुरुषों में निवास करते हैं उन भाग्यशाली मनुष्यों के लिए नमस्कार है। अर्थात्—इन आठ गुणों से अलङ्कृत मनुष्य नमस्कार और पूजा करने योग्य है। तात्पर्य यह है कि—सर्वत्र गुणानुरागी की ही पूजा होती है और उसी का जीवन कृतार्थ (सफल) समझा जाता है।

जन्म, जरा, मृत्यु आदि दुःखों से पीड़ित इस संसार में प्रत्येक मनुष्य स्वप्रशंसा, स्वहित, अथवा लोकोपकारार्थ हर एक गुण को धारण करते हैं अर्थात्—हमारी प्रशंसा बढ़ेगी, सब कोई हमें सदाचारी या तपस्वी कहेंगे, संसार में सर्वत्र हमारी कीर्ति फैलेगी, हमारा महत्व व स्वामित्व बढ़ेगा, हमें लोग पूजेंगे तथा वन्दना करेंगे अथवा हमें उत्तम पदवी मिलेगी; इत्यादि अपने स्वार्थ की आशा से बाह्याडम्बर मात्र से शुद्ध आचरण और शास्त्राभ्यासादि करना तथा सब के साथ उचित व्यवहार रखना सो सब स्वप्रशंसा के निमित्त है, इससे परमार्थतः यथार्थ फल प्राप्त नहीं हो सकता। और जो अनादि काल से यह आत्मा दोषों के वशवर्त्ती हो, गुणधारण किये बिना नाना दुःखों को सहन करता है परन्तु लेश मात्र सुख का अनुभव नहीं कर सकता। इस विचार से आप्तप्रणीत सिद्धान्तों के रहस्यों को स्वक्षयोपशम या गुर्वादिकों की कृपा से समझकर यथाशक्ति सदाचरण को स्वीकार कर दोषों का परित्याग करना; वह स्वहितगुणधारण है। वास्तव में इस विचार से जो गुण आचरण किये जाते हैं; वेही उभय लोक में सुखानुभव करा सकते हैं।

जो लोग अनेक कष्ट सहन कर परहित करने के निमित्त सद्गुणों का संग्रह करते हैं, अथवा परोपकार करने की बुद्धि से शास्त्र अभ्यास व कलाभ्यास करते हैं; तथा सब जीवों का उद्धार करने के लिये संयमपालन करते हैं; और गाँव-गाँव पैदल विहार

---

* गृहस्थ की अपेक्षा—स्वदार—सन्तोषव्रत में रति, और साधु की अपेक्षा—सुमति रूप तरुणी में रति।

कर अपने उपदेशों से असद् मार्ग में पड़े हुए प्राणियों को निकाल कर सद्धर्ममार्ग में स्थापित करते हैं अथवा हमेशा निस्वार्थ वृत्ति से दोष रहित आप्तभाषित उत्तम धर्म की प्ररूपणा करते हैं; वह सब आचरण लोकोपकारार्थ है। इससे उत्तमता के और अनुपम सुख के दायक ये ही सद्गुण हैं। इसी का नाम असली गुणानुराग है, अतएव अकृत्रिम गुणानुरागी सत्पुरुष सब में गुण ही देखते हैं परन्तु उनकी दृष्टि दोषों पर नहीं पड़ती।

गुणानुरागी महानुभावों का यह स्वभाव होता है कि अपना उत्कट शत्रु या निन्दक अथवा कोई अत्यन्त घिनावनी वस्तु हो तो भी वह उनके अवगुण के तरफ नहीं देखेगा, परन्तु उनमें जो गुण होंगे उन्हीं को देखकर आनन्दित रहेगा। शास्त्रकारों ने गुणानुराग पर एक दृष्टान्त बहुत ही मनन करने लायक लिखा है कि—

सुराष्ट्र देश में सुवर्ण और मणिमय मन्दिर तथा प्राकार से शोभित धनद (कुबेर) की बनाई हुई 'द्वारिका' नाम की नगरी थी। उसमें दक्षिणभरतार्द्धपति, यादवकुलचन्द्र—श्रीकृष्ण (वासुदेव) राज्य करते थे। वहाँ पर एक समय घातिकर्म—चतुष्टय को नाश करने वाले, मिथ्यातिमिरदवाग्नि—भगवान् 'श्री अरिष्टनेमी स्वामी' श्री रैवतगिरि पर 'नन्दन' नामक उद्यान में देवताओं से रचित समवसरण के विषे देशना देने के लिये विराजमान हुए। तदनन्तर वनपालक से भगवान का आगमन सुनकर प्रसन्न हो, भरतार्द्धपति—श्रीकृष्णजी तीर्थङ्कर भगवान को वन्दना करने के लिये चले। उनके साथ समुद्रविजयादि दशदशार्ह, बलदेवादि पांच महावीर, उग्रसेन वगैरह सोलह हजार राजवर्ग, और एक्कीस हजार वीर—योद्धा, शाम्ब प्रभृति साठ हजार दुर्दान्त—कुमार, प्रद्युम्न आदि साढ़े तीन करोड़ राजकुमार, महासेन प्रमुख छप्पन हजार बलवान वर्ग, तथा सेठ साहूकार आदि नगर निवासी लोग भी चले।

इसी समय सौधर्मेन्द्र अवधिज्ञान से श्रीकृष्ण का मन (स्वभाव) गुणानुरागी जानकर प्रसन्न हो, सभा में अपने देवताओं से कहने लगा कि—हे देवताओ! देखो, देखो ये महानुभाग 'श्रीकृष्ण' सदा दूसरों के अत्यल्पगुण को भी महान् गुण की बुद्धि से देखता है। इस अवसर पर एक देवता ने विचार किया कि—बालकों के समान बड़े लोग भी जो जी में आता है, कहा करते हैं इसलिये इस बात की परीक्षा करना चाहिये कि—वस्तुतः यह बात कैसी है? ऐसा सोचकर वह *देवता श्रीकृष्ण के मार्ग में एक मरा हुआ दुर्गन्धि से पूर्ण खुले दांत*

वाला काला कुत्ता प्रकट करता हुआ, उसकी दुर्गन्धि से व्याकुल हो सम्पूर्ण सेना कपड़े से नाक तथा मुख को बाँधती हुई इधर, उधर दूर होकर चलने लगी। किन्तु श्रीकृष्ण तो उसी रास्ते से जाते हुए उस कुत्ते को देखकर यों बोले अहो! इस काले कुत्ते के मुख में सफेद दंत पंक्ति ऐसी शोभित हो रही है—जैसे मरकत (पन्ने) की थाली में मोती की माला हो।

इस प्रकार श्रीकृष्ण को गुणानुराग में लवलीन देखकर देवता विचारने लगा कि—

'कहवि न दोसं वयंति सप्पुरिसा'

अर्थात्—सत्पुरुष कभी किसी के दोष अपने मुँह से नहीं बोलते किन्तु अपकारी के भी गुण ही ग्रहण करते हैं।

पश्चात् उस देवता ने सौधर्मेन्द्र के वचनों को सत्य जानकर और अपना दिव्य रूप प्रकट कर पर गुण ग्रहण करने वालों में प्रधान श्रीकृष्ण, उसकी बहुत प्रशंसा की और सब उपद्रवों को नाश करने वाली भेरी (दुन्दुभी) दी। फिर श्रीकृष्ण श्री रैवत-गिरि के ऊपर समवसरण में प्राप्त हो भगवान् को वन्दना कर अपने योग्य स्थान पर बैठ गये। तब भगवान ने दुरित-तिमिरविदारिणी देशना प्रारम्भ की कि हे भव्यो! इस भवरूपी जंगल में सम्यक्त्व (समकित) को किसी न किसी प्रकार से प्राप्त करके उसकी विशुद्धि (शुद्धता) निमित्त दूसरों में विद्यमान गुणों की प्रशंसा करना चाहिये। क्योंकि—जिस प्रकार समस्त तत्त्वों के विषय में अरुचि सम्यक्त्व को मूल से नष्ट कर देती है उसी प्रकार दूसरों के सद्गुणों की अनुपवृंहणा अर्थात्—प्रशंसा न करना तत्त्व में अतिचार उत्पन्न करने वाली होती है, फिर जीवों में स्थित गुणों की यदि प्रशंसा न की जाय तो अत्यन्त क्लेश से प्राप्त उन गुणों का कौन आदर करे? इसलिये ज्ञानादि के विषय में जहाँ जितना गुण का लेश देखाई दे उसको सम्यक्त्व का अंग मान कर उतनी प्रशंसा करनी चाहिये, क्योंकि जो मात्सर्य के वश होकर या प्रमाद से किसी मनुष्य के सद्गुणों की प्रशंसा नहीं करता वह 'भवदेवसूरि'[१] के समान दुःख को प्राप्त होता है।

---

(१) भवदेवसूरि का वृत्तान्त धर्मरत्न प्रकरण ग्रन्थ में पाठकों को देख लेना चाहिये।

पाठक महोदय! थोड़ासा अपना ध्यान इधर आकर्षित कीजिये कि—गुणानुराग की महिमा कितनी प्रबल है, जिसके प्रभाव से गुणानुरागी पुरुष की इन्द्र भी नम्रभाव से आश्चर्य पूर्वक स्तुति करते हैं और अनेक दिव्य वस्तुओं की प्राप्ति होती है।

क्योंकि गुणानुरागी पुरुष अमत्सरी होता है। इससे वह किसी की निन्दा नहीं करता और मधुर वचनों से सब के साथ व्यवहार करता है। अपना अहित करने पर भी किसी के साथ विगाड़ करना नहीं चाहता और न किसी का मर्मोद्घाटन करता है, इसी से वह चुगली, तथा दुर्जन की संगति आदि सदोष मार्गों से विलकुल सम्बन्ध नहीं रखता हुआ धार्मिक विचार में भी विवाद और शुष्कवाद को सर्वथा छोड़ कर न्यायपूर्वक प्रवृत्त होता है।

वादत्रिपुटी

तीनों वादों का स्वरूप जो श्रीमान् 'श्रीहरिभद्रसूरिजी' महाराज ने स्वकृत 'अष्टक' (अध्यात्मसार) में निरूपण किया है। वही यहाँ प्रसङ्ग वश से दिखाया जाता है—

अत्यन्तमानिना सार्द्धं, क्रूरचित्तेन च दृढम्।
धर्मद्विष्टेन मूढेन, शुष्कवादस्तपस्विनः।।२।।

भावार्थ—जो अत्यन्त अभिमानी, दुष्ट अध्यवसाय वाला धर्म का द्वेषी, और युक्त अयुक्त के विचार से शून्य (मूर्ख) पुरुष हैं, उनके साथ तपस्वी को वाद करना वह 'शुष्कवाद' कहलाता है। अर्थात् यह वाद अनर्थ का कारण है; क्योंकि—इस वाद में खाली कण्ठशोष के अतिरिक्त कुछ भी सत्याऽसत्य का निर्णय नहीं होता प्रत्युत वैर विरोध बढ़ता है, इसी से संजमघात, आत्मघात और धर्म की लघुता आदि दोषों का उद्भव होकर संसार वृद्धि होती है। अर्थात्—वाद करते समय अभिमानी अगर हार गया तो अभिमान के कारण आत्मघात करेगा, अथवा मन में वैरभाव रख कर जिससे हार गया है उसका घात करेगा या उसके धर्म की निन्दा करेगा। यदि गुणानुरागी (तपस्वी—साधु) अभिमानी आदि से पराजित हो गया तो संसार में निन्दा का पात्र बनेगा और अपने धर्म की अवनति करावेगा। इससे ऐसा वाद परमार्थ से हानिकारक ही है।

लब्धिख्यात्यर्थिना तुस्या-दुस्थितेन महात्मनः
छलजातिप्रधानो यः, स विवाद इति स्मृतः।।४।।

भावार्थ—सुवर्ण आदि का लोभी, कीर्ति को चाहनेवाला, दुर्जन अर्थात्—खींजने वाला—चिढ़ने वाला, और उदारता रहित पुरुषों के साथ छल अथवा जाति नामक वाद करना 'विवाद' कहलाता है।

इस प्रकार छल, जाति (दूषणाभास) आदि के बिना किये हुए वाद में तत्त्ववादी को विजय प्राप्त होना मुश्किल है। जो कदाचित् विजय भी प्राप्त हुआ तो पूर्वोक्त वादियों को धर्म का बोध नहीं होता किन्तु उलटा रागद्वेष बढ़ कर आत्मा क्लेशों के वशीभुत होता है। परस्पर एक दूसरों के दोषों को देखते हुए निन्दा या मानभंग होने के सिवाय कुछ भी तत्त्व नहीं पा सकते, इससे यह वाद भी अन्तराय आदि दोषों का उत्पादक और यश का घातक है।

परलोकप्रधानेन, मध्यस्थेन तु धीमता।
स्वशास्त्रज्ञाततत्त्वेन, धर्मवाद उदाहृतः।।६।।

भावार्थ—परलोक को प्रधान रूप से मानने वाला, मध्यस्थ, बुद्धिमान और अपने शास्त्र का रहस्य जानने वाला तथा तत्त्वगवेषी के साथ में वाद करना उसका नाम 'धर्मवाद' है, क्योंकि परलोक को मानने वाला पुरुष दुर्गति होने के भय से वाद करते समय अयुक्त नहीं बोलता, किन्तु मध्यस्थ (सब धर्मों की सत्यता पर समान बुद्धि रखने वाला) पुरुष गुण और दोष का ज्ञाता होने से असत्य का पक्षपाती नहीं बनता। एवं बुद्धिवान्—धर्म, अधर्म, सद्असद् आदि का निर्णय स्वबुद्धि के बल से भले प्रकार कर सकता है; इसी तरह स्वशास्त्रज्ञ पुरुष धर्मवाद में दूषित और अदूषित धर्मों की आलोचना (विचार) कर सकता है। इससे इन वादियों के साथ धर्मवाद करने से विचार की सफलता न्याय पूर्वक होती है।

धर्मवाद में मुख्यतया ऐसी बातों का विषय रहना चाहिये कि जिससे किसी मजहब को बाधा न पहुँचे, अर्थात्—जिस बात को सब कोई मान्य करें। उनमें अपेक्षा या नामान्तर भले रहे, परन्तु मन्तव्य में भेद नहीं रहना चाहिये अथवा किसी कारण से मत पक्ष में निमग्न हो, जो कोई मान्य न करे परन्तु युक्ति और प्रमाणों के द्वारा उनका खण्डन भी न कर सके। जैसे—लिखा है कि—

पश्चैतानि पवित्राणि, सर्वेषां धर्मचारिणाम्।
अहिंसा सत्यमस्तेयं, त्यागो मैथुनवर्जनम्।।१।।

भावार्थ—अहिंसा—अर्थात् किसी जीव को मारना नहीं १, सत्य-याने प्राणान्त कष्ट आ पड़ने पर भी झूठ नहीं बोलना २, अस्तेय—सर्वथा चोरी नहीं करना ३, त्याग—परिग्रह (मूर्छा) का नियम करना ४, और मैथुनवर्जन-ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करना ५, ये पांच पवित्र-निर्मल महाव्रत सब धर्मावलम्बियों के मानने योग्य हैं।

अर्थात्—जैन लोगों के धर्मशास्त्र में ये पांच धर्म 'महाव्रत' नाम से प्रख्यात हैं। तथा सांख्यमत वाले इनको 'यम' कहते हैं, और अक्रोध, गुरु सेवा, पवित्रता, अल्पभोजन तथा अप्रमाद, इनको 'नियम' कहते हैं। पाशुपत मतावलम्बी इन दशों को 'धर्म' कहते हैं। और भागवत लोग पांच यम को 'व्रत' तथा नियमों को 'उपव्रत' मानते हैं। बौद्धमत वाले पूर्वोक्त दश को 'कुशल-धर्म' कहते हैं, और नैयायिक तथा वैदिक वगैरह 'ब्रह्म' मानते हैं। इसी से कहा जाता है कि—संन्यासी, स्नातक, नीलपट, वेदान्ती, मीमांसक, साङ्ख्यवेत्ता, बौद्ध, शाक्त, शैव, पाशुपत, कालामुखी, जङ्गम, कापालिक, शाम्भव, भागवत, नग्नवत, जटिल आदि आधुनिक और प्राचीन सब मतावलम्बियों ने पवित्र पांच महा धर्मों को यम, नियम, व्रत, उपव्रत, महाव्रतादि नाम से मान दिया हैं। किन्तु कोई दर्शनकार इनका खंडन नहीं करता; अत एव ये पवित्र धर्म सर्वमान्य हैं।

ऐसी अनेक निर्विवाद बातों का वादानुवाद चला कर नीतिपूर्वक सत्य को स्वीकार करना और दूसरों को सत्य-पक्ष समझाकर सद्धर्म में स्थापित करना यही उत्तम वाद 'धर्मवाद' है। धर्मवाद करते समय पक्षापक्षी (ममत्व) को तो बिलकुल छोड़ देना ही चाहिये, क्योंकि—ममत्व को छोड़े बिना धार्मिक निवेड़ा हो ही नहीं सकता है।

धर्मवाद में पक्षपात को सर्वथा छोड़ कर सत्य बात पर कटिबद्ध रहना चाहिये और सत्यता की तरफ ही अपने मनको आकर्षित रखना चाहिये। यद्यपि यह नियम है कि सत्यासत्य का निर्णय हुए विना अपनी पकड़ी बात नहीं छूटती, तथापि प्रतिपक्षी की और अनादरता जाहिर करना उचित नहीं हैं। क्योंकि धर्मवाद में

कदाग्रह—दुराग्रह, मतममत्व, अहंकार, तिरस्कार, आत्मश्लाघा, मर्मभेदिता, दुर्गुणोद्भावना, दिल्लगी, उपहास्य, छलप्रपञ्च, कपट, कुटिलता आदि दोषजन्य दुर्गुणों का सर्वथा अभाव होता है। और शील, संतोष, विवेक आदि की प्रधानता रहती है, इससे इस वाद में अश्लील शब्दों का व्यवहार नहीं किया जा सकता, किन्तु परस्पर प्रेम पूर्वक मधुर वचनों से सशास्त्र पारमार्थिक विचार किया जाता है। इसलिये गुणानुरागी महानुभावों को मैत्री, प्रमोद, करुणा, और माध्यस्थ्य भावनाओं को धारण कर जहाँ खलपुरुषों का विशेष प्रचार न हो १, जहाँ दुर्भिक्ष या कृपण लोग न हों २, जहाँ राजा और सभासद सत्यप्रेमी हों ३, तथा प्रतिवादी परगुणग्रहणशाली हों ४, इत्यादि वादयोग्य सब तैयारी मिलने पर सत्तत्व का निर्णय करने के वास्ते धर्मवाद करना चाहिये।

इस प्रकार के वाद से ही अज्ञान का विनाश और सद्धर्म का प्रकाश होता है। कहा भी है कि—'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः' वास्तव में धर्मवाद से ही सर्वत्र शान्तिभाव फैल कर वैर विरोध का अभाव होता है और सत्त्य धर्म की शुद्धि का उत्साह बढ़ता है, तथा हर एक शिक्षा का प्रभाव पड़ कर मात्सर्यभाव मिटता है, और संसार में पूज्यपद मिलता है। इससे पुरुषों को अपने प्रत्येक भाषण में मधुर और प्रिय वचनों का प्रयोग करना चाहिये। अपने शत्रु या अहितकर्त्ता के दोषों पर भी ध्यान न रख कर उनके गुणों के ऊपर ही अनुरागी बनना चाहिये।

• • •

गुणानुराग के बिना विद्याऽभ्यासाऽऽदि सब व्यर्थ हैं—

***किं बहुणा भणिएणं,**
किं वा तविएण दाणेणं।
इक्कं गुणाणुरायं,
सिक्खह सुक्खाण कुलभवणं।४।

शब्दार्थ—(बहुणा) अधिक (भणिएणं) पढ़ने से (वा) अथवा (तविएण) तपस्या करने से, और (दाणेणं) दान देने से (किं) क्या होने

*किं बहुना भणितेन, किं वा तपसा दानेन?।।
एकं गुणानुरागं, शिक्षध्वं सुखानां कुलभवनम्।।

वाला है ?, किन्तु (इक्कं) एक (सुक्खाण) सब सुखों का (कुलभवणं) उत्तम गृह (गुणाणुरायं) गुणानुराग—महागुण को (सिक्खह) सीखो। ।४। ।

भावार्थ—पढ़ने से, अनेक प्रकार की तपस्या करने से, और दान देने से; फ़ज़ूल खोटी होना है, अर्थात् इनसे कुछ भी फ़ायदा नहीं हो सकता ? इसलिये केवल एक गुणानुराग महागुण का ही अभ्यास करना चाहिये जो अनेक उत्तम गुणों का कुलगृह है। ।४। ।

विवेचन—हर एक गुण को प्राप्त करने के लिये प्रथम मनःशुद्धि की आवश्यकता है। क्योंकि मनःशुद्धि हुए बिना कोई भी अभ्यास फलीभूत नहीं होता, और न आत्मा निर्मल होती है। अहङ्कार, मद, मात्सर्य आदि दोषों को हटा देने से मन की शुद्धि होती है और मनः शुद्धि होने से यह आत्मा नम्रस्वभावी बनकर गुणानुरागी बनता है। जिसका हृदय अहंकार आदि दोषों से रहित नहीं है। तथा वैर-विरोधों से दूषित बना रहता है उसको पढ़ना, तपस्या करना, दान देना आदि क्रियाएँ यथार्थ फलदायिका नहीं हो सकती। कहा भी है कि—

मन्त्र जपै अरु तन्त्र करै,
पुनि तीरथ वर्त रहै भरमाए;
ग्रन्थ पढ़ै सब पन्थ चढ़ै,
बहु रूप धरै नित वेष वताए।
योग करै अरु ध्यान धरै,
चहे मौन रहै पुनि स्वास चढ़ाए;
शुद्धानन्द एको न सधै जवलों
चित चंचल हाथ न लाए। ।

इसलिये जब तक अहंकार, परपरिवाद, वैर, कलह, और मात्सर्य आदि दोषों से मन को रोक कर परगुणानुरागी न बनाया जायगा तब तक पठन पाठनादि से कुछ भी लाभ नहीं हो सकता।

संसार में मुख्यतया जितनी विद्याएँ या कलाएँ उपलब्ध हैं उनको पढ़ लिया, और शास्त्रावगाहन करने में सुरगुरु को भी चकित कर दिया, तथा वाद विवाद करके अनेक जयपताकाएँ भी

संगृहीत कर लीं, और दर्शनों की युक्ति प्रयुक्ति समझ कर सर्वमान्य भी बन गये, बहुत क्या कहें सार्वभौम पदाधिरूढ़ भी हो गये, परन्तु जो सब सुखों का कुल भवन एक गुणानुराग नहीं सीखा तो वे सब व्यर्थ हैं, क्योंकि ये सब योग्यताएँ गुणानुराग से ही शोभित होती हैं। अगर विद्या पढ़ने पर भी दूसरों के दोष निकालने की खराब आदत न मिटी तो वह विद्या किस काम की? यदि तपस्या करने पर भी शान्तिभाव न आया तो वह तपस्या किस काम की? और दान देने से आत्मा में आनन्द न हुआ तो वह दान भी किस काम का? अर्थात् सब कामों की सिद्धि गुणानुराग के पीछे होती है, इसलिये एक गुणानुराग महागुण को ग्रहण करने का ही विशेष प्रयत्न रखना चाहिये। क्योंकि—गुणानुराग पूर्वक स्वल्प-शिक्षण भी विशेष फलदायक होता है। लिखा भी है कि—

थोवं पि अणुट्ठाणं, आणपहाणं हणेइ पावभरे।
लहुओ रविकरपसरो, दहदिसितिमिरं पणासेई।।१।।

भावार्थ—आज्ञा प्रधान थोड़ा सा भी अनुष्ठान अनेक पापसमूहों का नाश करता है; जैसे—छोटा भी सूर्यकिरणों का जत्था (समूह) दश-दिशाओं में व्याप्त अन्धकार का विनाश करता है।

शास्त्रकारों के मत से धर्म का अभ्युदय, आत्मोन्नति, शासनप्रभावना आदि कार्यों में सफलता जिनाज्ञा के बिना नहीं हो सकती। जिनाज्ञा एक अमूल्य रत्न है, अतएव आज्ञा की आराधना से ही सब कार्य सिद्ध होते हैं और उसी के प्रभाव से सब जगह विजय प्राप्त होती है। यहाँ पर स्वाभाविक प्रश्न उठ सकता है कि—जिनेन्द्र भगवान् की सर्वमान्य आज्ञा क्या है? इसका उत्तर यह है कि—

किं बहुणा इह जह जह, रागद्दोसा लहू विलिज्जंति।
तह तह पवट्टियव्वं, एसा आणा जिणिंदाणं।।२।।

भावार्थ—आचार्य महाराज आदेश करते हैं कि—हे शिष्य! बहुत कहने से क्या लाभ है? इस संसार में जिस जिस रीति से राग और द्वेष लघु (न्यून) होकर विलीन हों, वैसी वैसी प्रवृत्ती करनी चाहिये, ऐसी जिनेन्द्र भगवान की हितकर आज्ञा है। अर्थात्—जिस प्रवृत्ति या उपाय से रोग द्वेष की परिणति कम पड़े उसी में दत्तचित्त

रहना चाहिये। क्योंकि—'राग द्वेष दो बीज से, कर्म बन्ध की व्याध' अर्थात्—राग और द्वेष इन दोनों बीज से कर्म बंधरूप व्याधि होती है और नाना प्रकार के वैर विरोध बढ़ते हैं। इससे जिनेश्वरों ने सबसे पहले राग द्वेष को कम करने की आज्ञा दी है, किन्तु गुणानुराग विना, राग द्वेष कम नहीं होते और राग द्वेष के कम हुए विना आत्मा में किसी गुण का प्रभाव नहीं पड़ सकता।

कहने का तात्पर्य यह है कि—पढ़ना, तप करना, दान देना, क्रियाकाण्ड सँचवना इत्यादि बातें तो सहज हैं, परन्तु दूसरों के गुणों पर प्रमुदित हो उनका अनुमोदन करना बहुत ही कठिन बातहै। इसमें कारण यह है कि—दूसरों के गुणों पर अनुरागी होना अभिमान दशा को समझ छोड़े विना नहीं बन सकता, किन्तु अभिमान को छोड़ना अत्यन्त दुष्कर है। इससे गुणानुराग का धारण करना अति दुर्लभ माना जाता है, क्योंकि—गुणानुराग की सुगन्धि उसी जगह आ सकती है जहाँ अहंकार की दुर्गन्धि नहीं आती।

'बहुत पढ़ने, तपस्या करने और दान देने से क्या होने वाला है?' ऐसा जो ग्रन्थकार ने उपदेश किया है उसका उद्देश यह नहीं है कि—बिलकुल पढ़ना ही नहीं या तपस्या आदि करना नहीं, किन्तु वह गुणानुराग पूर्वक ही पठन पाठनादि करना चाहिये, क्योंकि—गुणानुराग से ही सब क्रियाएँ सफल होती हैं। इसलिये प्रथम अन्य क्रियाओं का अभ्यास न कर, एक गुणानुराग को ही सीखना चाहिये।

• • •

इसी विषय को ग्रन्थकार फिर दृढ़ करते हैं—

***जइ वि चरसि तवविउलं,**
पढसि सुयं करिसि विविहकट्ठाइं।
न धरिसि गुणाणुरायं,
परेसु ता निप्फलं सयलं।।५।।

शब्दार्थ—(जइवि) यद्यपि तूँ (तवविउलं) बहुत तपस्या (चरसि) करता है, तथा (सुयं) श्रुत को (पढ़सि) पढ़ता है और (विविहकट्ठाइं)

*यद्यपि चरसि तपोविपुलं, पठसि श्रुतं करोषि विवधकष्टानि।
न धारयसि गुणानुरागं, परेषु ततो निष्फलं सकलम्।।५।।

अनेक प्रकार के कष्टसाध्य कार्यों को (करिसि) करता है, परन्तु (परेसु) दूसरों के विषे (गुणानुरायं) गुणानुराग को (न) नहीं (धरिसि) धारणा करता है (ता) तिससे (सयलं) पूर्वोक्त सब परिश्रम (निष्फलं) निष्फल हैं।

विवेचन—गुणानुराग का इतना महत्त्व दिखलाने का कारण यही है कि इसके विना तप करने, श्रुत अर्थात्—शास्त्र पढ़ने और अनेक कष्ट साध्य कार्यों के करने का यथार्थ फल नहीं मिलता तथा न दूसरे सद्‌गुणों की प्राप्ती होती है। अभिमान, आत्मप्रशंसा और ईर्षा ये दोष हर एक अनुष्ठान के शत्रुभूत है। संसार में लोग घर, राज्य, लक्ष्मी आदि माल मिलकियत छोड़ कर अनेक प्रकार के तपोऽनुष्ठान करने में अड़ग (प्रगल्भ) बने रहते हैं, तथा स्वाधीन स्त्रियों के स्नेह को छोड़ना भी कुछ कठिन नहीं समझते एवं व्याकरण—कोष—काव्य—अलङ्कार—न्याय—वेदान्त—आगम—निगम आदि शास्त्रों को पढ़ कर विद्वत्ता भी प्राप्त कर लेते हैं और अनेक कष्ट उठाते हैं परन्तु प्रायः अभिमान, स्वप्रशंसा, परनिन्दा और ईर्षा आदि दोषों को नहीं छोड़ सकते। यह बात कही हुई भी है कि—

कंचन तजना सहज है, सहज त्रिया का नेह।
मान बड़ाई ईर्षा, दुरलभ तजनी एह।।१।।

इसलिये अभिमान को छोड़ कर गुणानुराग पूर्वक जो अनुष्ठानादि क्रिया की जायें तो वे फलीभुत हो सकती हैं, क्योंकि—दूसरों के गुणों पर अनुराग या उनका अनुमोदन करने से निर्गुण मनुष्य भी गुणवान् बन जाता है।

हर एक दर्शनकारों का मुख्य सिद्धान्त यह है कि अभिमान और मात्सर्य, विनयशील—तप—सन्तोष आदि सद्‌गुणों के घातक और सत्यमार्ग के कट्टर द्रोही हैं। अभिमान से गुणी जनों के सद्‌गुणों पर अनुरागी न बन कर दुर्गति के भाजन बनते हैं और इसी के आवेश में लोग दृष्टिरागी बनकर 'मैं जो कहता हूँ या करता हूँ सोही सत्य है, बाकी सब असत्य है' ऐसी भ्रान्ति में निमग्न हो विवेकशून्य बन जाते हैं।

दृष्टिराग से अन्धे लोग सत्य के पक्षपाती न बन कर असदाग्रह पर आरूढ़ रहते हैं अर्थात्—वीतराग भगवान के वचनों

का आदर न कर केवल अपनी पकड़ी हुई कल्पित बात को ही सिद्ध करने में दत्त-चित्त रहते हैं और उसी की सिद्धि के लिये कुयुक्तियाँ लगा कर जिनवचनविरुद्ध कल्पित पुस्तकें निर्मित कर भद्र जीवों को सत्य मार्ग से भ्रष्ट करने में उद्यत बने रहते हैं। अभिमान के वश से दृष्टिराग में फसे हुए लोगों को चाहे जिस प्रकार से समझाया जाय परन्तु वे अपने आग्रह को छोड़ते नहीं है। प्रत्युत्त सत्य बातों को दूषित करने में सावधान रहते हुए सत्य मार्ग को स्वीकार नहीं करते, और न उनका अनुमोदन ही करते हैं। श्री हेमचन्द्राचार्य स्वकृत 'वीतरागस्तोत्र' में लिखते हैं कि—

कामरागस्नेहरागा — वीषत्करनिवारणौ।
दृष्टिरागस्तु पापीयान्, दुरुच्छेदः सतामपि।।2।।

भावार्थ—कामराग, (विषय की अभिलाषा से स्त्री में रहा हुआ जो प्रेम) तथा स्नेहराग (स्नेह के कारण से पुत्रों के ऊपर रहा हुआ माता पिताओं का जो प्रेम) ये दोनों राग तो थोड़े उपदेश से निवारण किये जा सकते हैं किन्तु दृष्टिराग (स्वगच्छ में बंधा हुआ दुराग्रह—ममत्वभाव) तो इतना खराब होता है कि—सत्पुरुषों को भी छोड़ना कठिन है। अर्थात्—गच्छममत्त्व में पड़े हुए अच्छे-अच्छे विद्वान् आचार्य—उपाध्याय—साधु वर्ग भी अपना दुराग्रह शास्त्र विरुद्ध होते हुए भी उसे छोड़ते नहीं है और कुयुक्तियों के द्वारा सत्य बात का उपहास कर अनीति मार्ग में प्रवृत्त हो जाते हैं। दृष्टिराग से ही मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ-भावना का नाश होता है और लोग कलह में प्रवृत्त होते हैं तथा धर्म के रास्ते को भूल कर दुर्गति के भाजन बनते हैं किन्तु सत्य धर्म को अंगीकार नहीं कर सकते।

यहाँ पर यह प्रश्न अवश्य उठेगा कि—दृष्टिराग तो दूसरे मतवालों के होता है, जैनों के तो नहीं?

इसका उत्तर यह है कि जैन दो प्रकार के हैं—एक तो द्रव्यजैन और दूसरे भावजैन।

'द्रव्यजैन' वे कहे जाते हैं जिन में आन्तरिक श्रद्धा नहीं किन्तु परम्परा या रूढ़ि से धार्मिक व्यवहार साँचवते हैं, तथा जो कन्याविक्रय करते हैं, और जो अपने स्वधर्मियों का अपमान कर विधर्मियों की उन्नति करने में तत्पर रहते हैं, एवं जो लोक दिखाऊ

या अपनी प्रशंसा के वास्ते धार्मिक क्रियाओं में प्रवृत्त होते हैं, और जो अपनी बात रखने के लिये सद्गुरुओं की अवहेलना (तिरस्कार) करते हैं और जो अपने गच्छ के ममत्व में पड़ कर जाति या धर्म में विग्रह फैलाते हैं, और जो मद् मात्सर्य आदि अनेक दुर्गुणों में लीन रहते हैं।

वास्तव में द्रव्यजैन दृष्टिरागान्ध हो कर वास्तविक धर्म से पराङ्मुख रहते हैं।

'भावजैन' उन को कहते हैं जो अनन्त सुखात्मक जिनाज्ञाओं का पालन करते हैं, तथा कषायभाव से अपनी आत्मा को बचाकर हर एक सुकृत कार्य में प्रवृत्त होते हैं, और निरपेक्ष हो कर गुणीजनों की प्रशंसा, जिनेश्वरों की आराधना और सत्तत्वों का अभ्यास करते हैं। तथा जिह्वा को नियम में रख कर मधुर और सत्यवचन बोलते हैं; एवं किसी का मर्मोद्‌घाटन नहीं करते और जो आपत्तिकाल में भी धर्म को नहीं छोड़ते और जो दुराचारियों की संगति छोड़ कर सबके साथ समभावपूर्वक उचित व्यवहार रखते हैं, तथा जो स्वधर्मी को अपने भाई से भी अधिक सम्मान देते हैं, और जो वैभव में मान अथवा दरिद्रता में दुःख लेशमात्र भी नहीं रखते, एवं जो शत्रु की भी निन्दा नहीं करते तथा जो अपनी सभ्यता का कभी त्याग नहीं करते।

भावजैनों का हृदय उदार, गंभीर और गुणानुरागसंपन्न होता है, इसी से वे दृष्टिराग में न पड़कर सत्समागम और सत्यमार्ग पर कटिबद्ध रहते हैं।

महानुभावो! शास्त्राकारों ने द्रव्यजैन और भावजैनों का स्वरूप अनेक प्रकार से प्रतिपादित किया है, यदि वह यहाँ लिखा जाय तो ग्रन्थ बहुत बढ़ जाने की संभावना है इसलिये यहाँ संक्षेप से दिग्दर्शन मात्र कराया गया है। वर्तमान समय में द्रव्यजैन प्रायः विशेष दिखाई देते हैं परन्तु बुद्धिमानों को चाहिये कि भावजैनत्त्व के गुणों को धारण करें क्योंकि भावजैनत्त्व के बिना आत्मसुधार नहीं हो सकता, इससे कदाग्रह और आत्मश्लाघा को छोड़कर गुणानुरागी बनो, और उत्तरोत्तर सद्गुणसंग्रह करने में प्रयत्नशील रहो, जिससे आत्मकल्याण होवे।

• • •

मात्सर्यदुर्गुण ही सर्वत्र पराभव का हेतु है—

***सोऊण गुणुक्करिसं,**
अन्नस्स करेसि मच्छरं जइ वि।
ता नूणं संसारे,
पराभवं सहसि सव्वत्थ।।६।।

शब्दार्थ—(जइवि) यद्यपि—जो तूँ (अन्नस्स) दूसरे के (गुणुक्करिसं) गुणों के उत्कर्ष को (सोऊण) सुन करके (मच्छरं) मात्सर्यभाव को (करेसि) धारण करता है (ता) तिससे (नूणं) निश्चय से (संसारे) संसार में (सव्वत्थ) सब जगह (पराभवं) पराभव को (सहसि) सहन करता है।।६।।

भावार्थ—यदि गुणवानों के उत्तम गुणों को देख वा सुन कर अपने मन में मात्सर्यभाव को अवकाश देगा, तो तूँ सब जगह संसार में पराभव (निन्द्यअवस्था) को सहेगा अर्थात्—प्राप्त होगा।

विवेचन—महात्माओं और गुणवान पुरुषों की समृद्धि, विद्वत्ता, योग्यता और यशः कीर्त्ति अथवा अर्चना (पूजा) को देख या सुन कर अपने हृदय में आकुलित (दुःखित) होने का नाम 'मात्सर्य' है। संसार में मात्सर्य (ईर्षालुस्वभाव) ऐसा निन्दनीय दुर्गुण है, जो समग्र गुणों और उन्नतिमार्गों पर पानी फेर देता है, और सब जगह वैर विरोध बढ़ा कर निन्द्य अवस्था पर पहुँचा देता है।

सब दर्शनकारों का यही मन्तव्य है कि—भूमण्डल स्थित सम्पूर्ण विद्याओं और कलाओं को सीख कर ऐहिक (इस लोक सम्बन्धि) योग्यताओं को प्राप्त कर लो, परन्तु जब तक मुख से दूसरों की निन्दा आन्तरिक मात्सर्य और दोषारोप आदि का अश्लील (लज्जाजनक) स्वभाव न मिटेगा तो वे ऐहिक योग्यताएँ सर्प की तरह भयङ्कर और पलालपुञ्ज की तरह असार (व्यर्थ) ही हैं। यहाँ पर विचार करने से स्पष्ट जान पड़ता है कि—मत्सरी लोगों में जो ज्ञान, ध्यान, कला, आदि सद्गुण देखे जाते हैं वे केवल बाह्याडम्बर मात्र, निस्सार और अज्ञानरूप ही हैं, क्योंकि—मात्सर्य—युक्त मनुष्य

---

*श्रुत्वा गुणोत्कर्ष-मन्यस्य करोषि मत्सरं यद्यपि।
ततो नूनं संसारे, पराभवं सहसि सर्वत्र।।६।।

अधम लोगों की गणना में गिना गया है। इस से मत्सरी में जो गुण हैं, वे अधमस्वभाव से मिश्रित होने से अधमरूप (दोषदूषित) ही हैं। वास्तव में मत्सरी सदा दोष संग्राहक ही होता है, इसलिये कोई पुरुष चाहे जैसा गुणवान् और क्रियापात्र हो परन्तु वह उसमें भी दोषों के सिवाय और कुछ नहीं देखता।

जैसे काकपक्षी सरस और सुस्वादु जल व भोजन को छोड़ कर अत्यन्त दुर्गन्धि जल व भोजन के ऊपर ललचाता है। उसी प्रकार मत्सरी लोग गुणीजनों के उत्तम सद्गुणों पर अनुरागी न बन कर दोषारोप रूप अमेध्य भोजन और निन्दा रूप दुर्गन्धित जल की नित्य चाहना किया करते हैं।

कहा भी है कि—

प्रायेणाऽत्र कुलान्वितं कुकुलजाः श्रीवल्लभं दुर्भगाः,
दातारं कृपणा ऋजूननृजवो वित्ते स्थितं निर्धनाः।
वैरूप्योपहताश्च कान्तवपुषं धर्माऽऽश्रयं पापिनो,
नानाशास्त्रविचक्षणं च पुरुषं निन्दन्ति मूर्खाः सदा।।

भावार्थ—प्रायः इस संसार में अधम लोग कुलीनों (उत्तमपुरुषों) की, निर्भाग्य भाग्यवानों की, कृपण (सूम-कंजूस) दाताओं की, कुटिल (धीठे) लोग सरलाशय वाले सत्पुरुषों की, निर्धन धनवानों की, रूप विहीन स्वरूपवानों की, पापीलोग धर्मात्माओं की और (मूर्ख निरक्षर या मत्सरी) लोग अनेक शास्त्रों में विचक्षण (चतुर) विद्वानों की; निरन्तर निन्दा किया करते हैं।

मत्सरी लोगों का स्वभाव ही होता है कि—वे पण्डित, गुणवान् और महात्माओं के साथ द्वेष रख, हर जगह उनकी निन्दा में तत्पर हो उसी में अपना जीवन सफल समझते हैं। मत्सरी लोग मिटे हुए कलह को फिर से उदीर्ण करने में नहीं सरमाते। उन्हें संसार परिभ्रमण करने का भी भय नहीं रहता इससे निर्भय होकर दुराचार में प्रवृत्त रहते हैं। बहुतेरे तो मत्सरभाव से धार्मिक झगड़े खड़े कर कुसंप बढ़ाने में ही उद्यत होने से इस भव में निन्दा के भाजन बनते हैं और परभव में भी मात्सर्य के प्रभाव से अनेक दुःख भोगते रहते हैं, क्योंकि मात्सर्य करना भवभीरुओं का काम नहीं है किन्तु

भवाभिनन्दी का काम है। कहा भी है कि—

'क्षुद्रो लोभरतिर्दीनो, मत्सरी भयवान् शठः।
अज्ञोभवाभिनन्दीस्या — न्निष्फलारम्भसङ्गतः।।१।।'

भावार्थ—जो मनुष्य क्षुद्र—निन्दाखोर हो, लोभान्ध हो, दरिद्र (धर्मोत्साह रहित) हो, मत्सरी हो, भयवान् हो, मायावी हो, और अज्ञ (ज्ञानादि गुण से रहित) हो, और विफलारम्भ—कार्य करने वाला हो ये सब भवाभिनन्दी पुरुषों के लक्षण हैं।

भवाभिनन्दियों के अन्तःकरण में वैराग्य की वासना बिलकुल नहीं होती, इससे वे स्वार्थ और कपटलीला में विशेष निमग्न होकर मात्सर्य दुर्गुण के सेवन में ही सदा आनन्द मानते हैं। यद्यपि कोई बाह्यवृत्ति से नीति कुशलता का मोल बताता है परन्तु वह गुप्तपने अनीति का ही सेवन करता रहता है क्योंकि इसकी मनोवृत्ति दुष्ट और स्वार्थनिष्ठ बनी रहती है, इससे वह यथार्थ नीतियुक्त नहीं बन सकता, न कोई कार्य में विजय पा सकता है।

❖ मात्सर्यपरित्याग ❖

अत एव प्रत्येक मनुष्य को इस महादुर्गुण को सर्वथा छोड़ कर गुणवानों के गुणों को देख वा सुन कर आनन्दित रहना चाहिये। सब से पहले हमारे धर्मगुरुवर्य्यों को उचित है कि—वे अपने पूर्वाचार्यों की निष्पक्षपात बुद्धि, उनकी उत्तम शिक्षा और सहनशीलता का परिपूर्णरूप से अनुकरण कर, श्रोतावर्ग में जो भवाभिनन्दीपन के दोष हैं उनको अपने नीतिमय उपदेशों और व्याख्यानों के द्वारा मूल से नष्ट करें, क्योंकि—धर्म की उन्नति का आधार, उस धर्म को पालन करने वाली प्रजा के नीतिसुधार पर निर्भर है, और उस नीति का सुधार होना धर्मगुरुओं के आधीन है। यद्यपि बोर्डिंगहाउस, स्कूल, पाठशाला आदि में भी नीति का शिक्षण मिल सकता है परन्तु गुरुकुल में जितना नीति शिक्षण का यथार्थ प्रभाव पड़ता है उतना दूसरी जगह का नहीं। यह नियम सिद्ध बात है कि—जहाँ ईर्षा आदि दोषों का अभाव है और जहाँ स्वार्थ रहित हो परहित परायणता है; वहाँ पर अनीति मार्ग का अनुकरण स्वप्न में भी नहीं किया जायगा, और न वैसा शिक्षण ही दिया जायगा।

इसी वास्ते ग्रन्थकारों ने हर एक नीति का शिक्षण गुरुगम से प्राप्त करना उत्तम कहा है। परिपूर्ण विद्वान् होने पर भी गुरुगम्य—धार्मिक रहस्यों को अच्छी तरह नहीं जान सकता।

कहा भी है कि—

विना गुरुभ्यो गुणनीरधिभ्यो,
धर्मं न जानाति विचक्षणोऽपि।
आकर्णदीर्घोज्ज्वललोचनोऽपि,
दीपं विना पश्यति नान्धकारे।।१।।

भावार्थ—सद्गुणरत्नों के रत्नाकर (समुद्र) गुरुवर्य की कृपा के बिना बुद्धिमान मनुष्य भी धर्म को नहीं जान सकता है। जैसे—कोई मनुष्य बड़े-बड़े निर्मल लोचन होने पर भी अन्धकार स्थित वस्तुओं को दीपक के प्रकाश के बिना नहीं देख सकता।

दीपक की तरह गुरुवर्य धार्मिक मर्मों को स्पष्टरूप से दिखाते हुए हृदय स्थित मिथ्यात्व रूप अन्धकार को नष्ट कर नीति का प्रकाश कर सकते हैं। श्रावकवर्ग में नीति का सुधार तभी हो सकता है जब गच्छनायक परस्पर सहनशीलता और मैत्रीभाव को धारण कर सर्वत्र नीति मय उपदेश देवें और उसी के अनुसार उनसे वर्त्ताव करा कर उनको मात्सर्य से विमुख करें। क्योंकि—मात्सर्य दोष पराभव और अवनति का मुख्य धाम है, इसके विनाश किये बिना उन्नति और विजय नहीं हो सकती, ईर्ष्या ही मनुष्यों के उत्तम विचार, बुद्धि, सत्कार्य और उत्साह आदि को नष्ट कर देती है। जैन समाज का वर्त्तमान समय में जो अधःपतन हो कर प्रतिदिन ह्रास हो रहा है उसका मूल कारण ईर्ष्या ही है। पूर्व समय में जो जो गच्छनायक थे वे एक दूसरे की उन्नति देख आनन्दित होकर परस्पर एक दूसरे के सहायक बनते थे, किन्तु ईर्ष्याभाव कोई किसी से नहीं रखता था इससे उन्होंने सर्वत्र धर्म की महोन्नति और धर्म प्रचार किया है।

महानुभावो ! थोड़ा अपने पूर्वाचार्यों के किये हुए उन्नति मार्ग के कारणों को खोजो, और मात्सर्य के दुर्गुण को विचार कर छोड़ो तो तुम्हारा भी अभ्युदय शीघ्र ही होगा। यदि गुणवानों के गुणों को देखकर आनन्दित न होंगे तो विशेष पराभव होगा और कहीं भी

सुखशांति का मार्ग नहीं मिलेगा, प्रत्युत भवभ्रमण ही करना पड़ेगा।

• • •

मत्सर से की हुई निन्दा का फल—

***गुणवंताण नराणं,**
ईसाभरतिमिरपूरिओ भणसि।
जइ कह वि दोसलेसं,
ता भमसि भवे अपारम्मि ।।७।।

शब्दार्थ—(जइ) जो तूं (ईसाभरतिमिरपूरिओ) अत्यन्त ईर्षारूप अंधकार से पूरित अर्थात् अंधा बन (गुणवंताण) गुणवान (नराणं) मनुष्यों के (दोसलेसं) थोड़े भी दोषों को (कहवि) किसी प्रकार से (भणसि) बोलेगा (ता) तो (अपारम्मि) अपार (भवे) संसार में (भमसि) परिभ्रमण करेगा।

विवेचन—मत्सरी मनुष्य दिनान्ध हो घुग्घू की तरह सद्गुण रूपी सूर्य के प्रकाश को नहीं देख सकता, न सद्गुणों पर आनन्दित होता है, किन्तु दोषा (रात्रि) के समान दोषी के दोषों को देख कर आनन्दित हुआ करता है। मात्सर्य के कारण गुणवान महात्माओं की निन्दा कर मत्सरी संसार भ्रमण का भाजन बनता है। ईर्ष्यालु मनुष्य अविवेकों से लिपट कर गुरु शिष्य के सम्बन्ध में, पिता पुत्र के सम्बन्ध में और सहोदरों में या जाति में कुसंपरूप वज्रपात किये बिना नहीं रहता, अर्थात्—पूज्यवर्गों की आशातना या निन्दा करने से विलकुल नहीं डरता किन्तु जहाँ तक उससे बन पड़ता है, उनकी निन्दा कर महापातिकी बनता है, और हृदय की उदारता सुजनवर्ग से गुणप्राप्ती, गुणीसमागम आदि सद्मार्गों से शीघ्र पतित हो जाता है। क्योंकि ईर्ष्या—दूसरों का खंडन अपना मण्डन, दूसरों का अपकर्ष और अपना उत्कर्ष आदि को उत्तेजन करने की आकांक्षा बढ़ाती है। जैसे—हाथी छाया का अर्थी होकर किसी वृक्ष का आश्रय लेता है और आश्रय (विश्राम) के वाद उसी वृक्ष को छिन्न-भिन्न करने का उद्योग करता है, उसी प्रकार मत्सरी मनुष्य गुणीजनों के आश्रय में रहकर भी उनको पतित करने में उद्यत बना रहता है, और हर

---

*गुणवतां नराणामीर्ष्याभरतिमिरपूरितो भणसि।
यदि कथमपि दोषलेशं, ततो भ्रमसि भवेऽपारे।।

एक तरह से उनको दूषित करने के जाल फैलाया करता है। संसार में ऐसा कौन सद्गुण है जो कि मत्सरी लोगों से दूषित न किया गया हो?।

कहा भी है कि—

जाड्यं ह्रीमति गण्यते व्रतरुचौ दम्भः शुचौ कैतवं,
शूरे निर्घृणता मुनौ विमतिता दैन्यं प्रियालापिनी।
तेजस्विन्यवलिप्तता मुखरता वक्तर्यशक्तिः स्थिरे,
तत्को नाम गुणो भवेत्स गुणिनां यो दुर्जनैर्नाङ्कितः।।

भावार्थ—दुर्जन-मात्सर्यादिदोषसंपन्न लोग लज्जासंयुत पुरुष को जड़-मूर्ख कहते हैं, और व्रतधारक को दंभी-ठगोरा कहते हैं, निर्मल आचार पालन करने वालों को धूर्त, पराक्रमी मनुष्य को निर्दयी—दयाहीन, सरल को बुद्धि हीन, प्रिय-मधुर हितकारी वचन बोलने वालों को दीन, तेजस्वी को गर्विष्ठ—अभिमानी, बुद्धिमान को वाचाल, स्थिर चित्तवाले को अर्थात्—संतोषी को अशक्त-शक्तिहीन कहते हैं। इसलिये संसार में गुणीजनों का ऐसा कौन गुण हैं जो मत्सरी लोगों के द्वारा दोषों से अङ्कित न किया जाता हो, किन्तु मत्सरी सब में कुछ न कुछ दोषाऽऽरोप करते ही रहते हैं।

मत्सरी—लोगों में प्राणीमात्र की हिंसा करना, जाति या धर्म में विग्रह खड़ा करना, परदुःख में आनन्दित होना, परस्त्रीगमन करना, गुणीजनों की निन्दा करना, असदाग्रह में तत्पर रहना, विद्वानों के साथ द्वेष रखना, गुणवानों की संपत्ति देख दुःखी रहना, परद्रव्य हरण करना, पापोपदेश देना इत्यादि दुर्गुण स्वाभाविक होते हैं। इसी सबब से मत्सरी लोगों को दुर्जन, खल, दुष्ट आदि शब्दों से शास्त्रकारों ने व्यवहार किया है।

लोक में उद्यम, साहस, धैर्य, बल, बुद्धि, पराक्रम, सदाचार और परोपकार आदि सद्गुणों से मनुष्यों की प्रख्याति या प्रशंसा सर्वत्र होती है। परन्तु मत्सरी ज्यों-ज्यों सत्पुरुष के गुणों का अनुभव करता जाता है, त्यों-त्यों उसे अनेक दुःख सताने लगते हैं; क्योंकि सद्गुणों का अभ्युदय ईर्ष्यालुओं के हृदय में कंटक के समान गुचा करता है। पीलिया रोगवाला मनुष्य सब वस्तुओं को पीले रंगवाली ही देखा करता है उसी तरह मत्सरी भी सद्गुणों को दोषरूप

समझकर हृदयदग्ध बना रहता है और इसी आवेश में वह अपने अमूल्य मनुष्य जीवन को व्यर्थ खो बैठता है किन्तु उससे उत्तम गुण प्राप्त नहीं कर सकता।

इसलिए जो अपार संसार के दुःख से छूटना हो, तथा सर्वत्र अपना या धर्म का अभ्युदय करना हो और अनुपमसुख की चाहना हो तो गुणवानों के गुणों पर ईर्ष्या लाना या दोषाऽऽरोप देना बिलकुल छोड़ दो, और मैत्री धारण कर सर्वत्र शान्ति प्रचार का उद्योग करो क्योंकि—गुणवानों के दोष निकालने से या उनका बुरा चाहने से बहुत खराबी होती है।

महानुभावो! इस बात पर ध्यान दो और शान्त दृष्टि से विचारो कि—पुण्यशाली श्रीपालराजा के उत्तम गुणों और संपत्ति को सहन न करने से धवल सेठ अपनी कीर्ति, धनश्री और योग्यता से भ्रष्ट हो नरक का भागी बना और भाग्यशाली धन्नाजी के तीन भाई इसी मात्सर्य दोष के वश घर बार कुटुम्ब से विमुख हो अनेक दुःखों के पात्र बने हैं, कुटुम्ब और राज्य के सहित कैरवों का नाश भी इसी के प्रभाव से हुआ। बहुत क्या कहा जाय जहाँ मत्सर का सेवन किया जाता है वहाँ लेशमात्र सुख नहीं है। अत एव मात्सर्य भाव का त्याग कर सब के साथ भ्रातृभाव धारण करो, और प्रत्येक प्राणियों के अवगुणों पर दृष्टि न डाल कर गुणानुरागी व गुणग्राही बनो, तभी महत्व बढ़ेगा और सब प्रकार से उन्नति भी होगी।

• • •

मत्सरी—मनुष्य पलालपुंज से भी तुच्छ है—

***जो जंपइ परदोसे,**
गुणसयभरिओ वि मच्छरभरेणं।
सो विउसाणमसारो,
पलालपुंजु व्व पडिभाइ।।८।।

शब्दार्थ—(गुणसयभरिओ) सैकड़ों गुणों से युक्त होने पर (वि) भी (जो) जो कोई मनुष्य (मच्छरभरेणं) अधिक मत्सरभाव से (परदोसे)

---

*यो जल्पतिपरदोषान्, गुणशतमृतोऽपि मत्सरभरेण।
स विदुषामशारः पलालपुञ्जवत्प्रतिभाति।।८।।

दूसरों के दोष को (जंपइ) बोलता है (सो) वह (विउसाणं) विद्वानों के मध्य में (असारो) तुच्छ (पलालपुंजु व्व) पलालसमूह की तरह (पडिभाइ) शोभता है।

विवेचन—जो सब के साथ उचित व्यवहार रखता है, किसी की भी निन्दा नहीं करता, और सब का भला ही चाहता है वह चाहे मूर्ख ही क्यों न हो, परन्तु सब लोग उसका मैत्रीपूर्वक आदर करेंगे और जो कुछ वह कहेगा, उसको भी सादर मानेंगे। यदि कोई मनुष्य सत्यवक्ता, विभव सम्पत्ति और विचारोत्कर्ष आदि अनेक गुणयुक्त भी है परन्तु उसमें सहनशीलता नहीं है याने दूसरों का अभ्युदय देख दुखी होने का या दोषाऽऽरोप करने का स्वभाव विद्यमान है तो वह गुणिजनों के वीच में मात्सर्य के कारण शोभा नहीं पा सकता, किन्तु सब जगह अनादर ही पाता है।

यदि मत्सरी पुरुष सत्यबात का शुद्ध उपदेश भी देता हो तो भी लोग उस पर विश्वास नहीं लाते, क्योंकि—हजारों सद्गुणों को कलङ्कित करने वाला मात्सर्य दुर्गुण उसमें भरा हुआ है। इसी से उसका हितकर और मधुर वचन भी लोगों को अरुचिकर हो जाता है। इतना ही नहीं किन्तु मत्सर के प्रभाव से मनुष्य स्वयं शरीर शोभा, राज्य सम्मान और योग्यता से भ्रष्ट होकर अत्यन्त दुःखी बन जाता है।

यहाँ पर एक 'धन्नूलाल' चौधरी का मात्सर्य पर दृष्टान्त बहुत ही मनन करने लायक है—

इस भरतक्षेत्र में 'श्रीपुर' नामका सब देशों में विख्यात एक नगर किसी समय धनद की लक्ष्मी को लूटने वाला और व्यापारोन्नति का मुख्य धाम था। वहाँ अनेक सौध शिखरी जिन मंदिरों की श्रेणियाँ शुद्धधर्म की ध्वजा फरका रही थीं और जहाँ पंथियों के विश्राम के निमित्त अनेक धर्मशालाएँ बनी हुई तथा याचक लोगों को निराश न होने के वास्ते अनेक दानशालाएँ खुली हुई थी, और विपणि-हाट श्रेणियों की अपरिमित शोभा झलक रही थी और प्रायः जहाँ राजभवन से अनीति को देश निकाला दिया गया था तथा जहां सद्गृहिणी—शौभाग्यवती स्त्रियों ने अपने पवित्र आचरणों से नगर की अद्भुत शोभा को विस्तृत की थी। ऐसे सुगुणसंपन्न उस

'श्रीपुर' नगर में नितिनिपुण और समाङ्ग राजलक्ष्मी से अलङ्कृत 'तत्त्वसिंह' नामका राजा राज करता था। उसी नगर में राजमाननीय और वणिग्जाति में अग्रगण्य 'धन्नूलाल' नामक चौधरी रहता था।

किसी विदेशी सेठ ने लोगों के द्वारा सुना कि 'श्रीपुर' नगर व्यापार का और राजनीति का केन्द्र है। अतएव वहाँ जा कर 'यावद्बुद्धिबलोदयम्' व्यापार में उन्नति प्राप्त करूं, ऐसा विचार कर अपने विनीत कुटुम्ब के सहित 'श्रीपुर' में आया और बीच बाजार में दुकान लेकर ठहरा। भाग्यवशात् अल्पकाल में ही करोड़ों रुपये कमाये, इतना ही नहीं किन्तु धन के प्रभाव से सब साहूकारों में मुख्य माना जाने लगा। यहाँ तक कि पंच पंचायती या पानड़ी वगैरा कोई भी कार्य इस सेठ को पूछे विना नहीं हो सकते थे। और राज्य में भी इसका प्रभाव अच्छा जम गया, क्योंकि धन का प्रभाव ही इतना तीव्रतर है कि—धन सब योग्यताओं को बढ़ा कर प्रशस्य बना देता है। यथा—

'वन्द्यते यदवन्द्योऽपि, यदपूज्योऽपि पूज्यते।
गम्यते यदगम्योऽपि, स प्रभावो धनस्य तु।।१।।'

भावार्थ—जो नमस्कार करने के योग्य नहीं है वह नमस्कार करने योग्य बनता है, और जो अपूज्य है वह भी पूज्य बनता है, तथा जो अगम्य-परिचय के अयोग्य है वह परिचय करने योग्य बनता है; यह सब धन का ही प्रभाव है। अर्थात्—जो अटूट धनवान् होता है वह प्रायः कुलीन, पण्डित, श्रुतवान्, गुणज्ञ, वक्ता, दर्शनीय, वन्द्य, पूज्य, गम्य और श्लाघ्य समझा जाता है। बहुत क्या कहा जाय विद्यावृद्ध, राजा, महाराजा आदि सब लोग प्रायः धनी के आधीन रहते हैं।

अत एव उस विदेशी सेठ का प्रवेश सब जातियों और राज्य में परिपूर्ण रूप से जम गया, और सारे शहर में उसी की प्रशंसा होने लगी।

परन्तु 'गाँव तहाँ ढेडवाड़ा होय' इस कहावत के अनुसार जहाँ सज्जनों की बहुलता होती है, वहाँ प्रायः दो चार दुर्जन भी हुआ करते हैं इसलिये सेठ का अभ्युदय देख 'धन्नूलाल' चौधरी से रहा नहीं गया

अर्थात्—सेठ के उत्तम गुणों का अनुकरण नहीं कर सका, किन्तु ईर्ष्या के आवेश में आ कर सेठ की सर्वत्र निन्दा करने लगा। लेकिन लोगों ने उसकी बात पर ध्यान नहीं दिया, किन्तु प्रत्युत धन्नूलाल को ही फटकारना शुरू किया, तब वह दीनवदन हो सेठ के छिद्रों का अन्वेषण करने में उद्यत हुआ, परन्तु जो लोग हमेशा दोषों से बच कर रहते हैं, और जो सदाचारशाली पुरुष कुमार्गों का अनुकरण ही नहीं करते, उनमें दोषों का मिलना बहुत कठिन है। धन्नूलाल शिर पीट-पीट कर थक गया तोभी सदाचारी सेठ के अन्दर वह किसी हालत में छिद्र नहीं पा सका।

एक दिन सेठ ने पिछली रात को निद्रावसान में विचार किया कि मैंने पूर्व भवोपार्जित पुण्योदय से इतनी लक्ष्मी प्राप्त की है, और सब में अपना महत्त्व जमाया है, इस वास्ते अब कुछ न कुछ सत्कार्य करना चाहिये, क्योंकि—सद्धर्ममार्ग में व्यय की हुई लक्ष्मी ही पुण्यतरु की वर्द्धिका है; जिन्होंने लक्ष्मी पाकर उन्नतिमय कार्य नहीं किये, उनका जीना संसार में व्यर्थ है। ऐसा विचार कर सेठ ने निश्चय कर लिया कि—अच्छा दिन देख के सकुटुम्ब 'शत्रुंजय' महातीर्थ की यात्रा करनी चाहिये।

तदनन्तर शुभ दिन, वार और नक्षत्र देखकर सेठ ने सकुटुम्ब यात्रा के लिये प्रयाण किया। सब लोग गाँव के बाहर तक पहुँचाने आये। इस अवसर में धन्नूलाल ने 'विनाशकाले विपरीतबुद्धिः' इस वाक्य का अनुकरण कर विचारा कि—आज कोई अपशकुन हो जावे तो ठीक है, जिससे सेठ यात्रा न कर सके, परन्तु सेठ के भाग्योदय से सब शुभ शकुन ही हुए। तब धन्नूलाल शीघ्र अपनी नाक काट कर सेठ के सम्मुख आया, उस समय साथ के लोग बोले सेठ साहब! आज शकुन खराब मालूम होते हैं, इससे प्रयाण करना अच्छा नहीं है। कहा भी है कि—

मदपानी पागल पुरुष, नकटा संमुख आय।
खोड़ा भूखा बाँझनी, न करहु गमन कदाय।।

भावार्थ—अगर दारू का घड़ा, पागल, नकटा, लूला, भूखे मरता मनुष्य और बाँझनी स्त्रियाँ गमन करते समय सामने मिल जावें, तो पीछे लौट आना ही हितकर है, किन्तु आगे जाना ठीक नहीं है।

इस बात को सुनते ही सेठ सकुटुम्ब पीछा चला आया, और शोचा कि—फिर दूसरे दिन अच्छा शकुन देख कर प्रयाण करूंगा। इधर चौधरी भी आनन्द मनाता हुआ साम को बाजार में आया, तब उसे नकटा देख कर सब लोग उपहास करने लगे और सब जगह वह तिरस्कार दृष्टि से देखा जाने लगा। क्योंकि—संसार में अत्यन्त सफाई से बोलकर उद्वेग करने वाला, हास्य से मर्मों—का उद्‌घाटन करने वाला सद्‌गुणविहीन और गुणीजनों का निन्दक मनुष्य करौती के समान माना जाता है अर्थात्—इस प्रकार का मनुष्य किसी का प्रिय नहीं रहता है।

'धन्नूलाल' को निन्दक, मत्सरी, और दुष्टस्वभावी जानकर लोगों ने उसको जातिबाहिर किया, और राजा के द्वारा उस विदेशी सेठ को नगर सेठ की उपाधि से अलंकृत कराया।

पाठकवर्ग! मात्सर्य स्वभाव के दोषों को भले प्रकार विचार पूर्वक छोड़ो और अपनी आत्मा को गुणानुरागी बनाओ। यदि गुणसंपन्न होने पर भी दूसरों के गुण का ग्रहण नहीं करोगे तो सर्वत्र तुमको निन्द्य अवस्था प्राप्त होने का अवसर आवेगा और धर्म की योग्यता से पराङ्मुख रहना पड़ेगा। क्योंकि—मत्सरी मनुष्य धर्मरत्न की योग्यता से रहित होता है। किन्तु धर्मरत्न के योग्य वही पुरुष है जो निम्नलिखित सद्‌गुण-संपन्न हो—

१, अक्षुद्र—गंभीरबुद्धिवाला हो, क्योंकि—गंभीर मनुष्य मद मात्सर्य से रहित हो धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझकर दुर्गुणों से अपनी आत्मा को बचा सकता है।

२, रूपवान्—सर्वाङ्ग सुन्दर मनुष्य धर्म के योग्य होता है, क्योंकि—'यत्राकृतिस्तत्र-गुणाः वसन्ति' अर्थात्—जहाँ पर सुन्दर मनोहर आकृति हो वहाँ पर गुण निवास करते हैं। अतएव रूपहीन मनुष्य प्रायः धर्म के योग्य नहीं हो सकता।

कहा भी है कि—जिसके हाथ रक्त हों वह धनवन्त, जिसके नीले हों वह मदिरा पीने वाला, जिसके पीले हों वह परस्त्री गमन करने वाला, जिसके काले हों वह निर्धन होता है। और जिसके नख श्वेत हों सो साधु, जिसके हाड़सदृश नख हों सो निर्धन, जिसके पीले

नख हों सो रोगी, पुष्प के समान नखवाला दुष्टस्वभावी और व्याघ्रसदृश नखवाला क्रूर होता है; जिसके नख पतले हों वह पुरुष सबका राजा, गुणवान्, दीर्घायु और गुणानुरागी होता है। जिसका स्कन्ध ऊँचा हो वह राजमान्य और यशः कीर्त्ति का पात्र बनता है, जिसकी नासिका ऊँची और सुशोभित हो वह सबका उपकारक तथा जगन्मान्य होता है, जिसका मस्तक ललाट, आदि अवयव विस्तीर्ण और मानोपेत हो वह शूर वीर, सौभाग्यवान, सबके साथ मित्रता रखनेवाला, और सबका उद्धारक होता है।

इसलिये कहा जाता है कि—उत्तमलक्षण संपन्न सर्वाङ्ग सुन्दर रूपवान् मनुष्य ही धर्म की योग्यता को प्राप्त कर सकता है, और वही पुरुष दूसरों की आत्मा में धर्म का प्रतिभास करा सकता है क्योंकि—प्रायः करके देखने में आता है जैसी अकृतिवाला उपदेश देता है वैसा ही उसका दूसरों पर प्रभाव पड़ता है, यदि काला कुरूपी अन्धा उपदेश करे तो लोगों के चित्त पर अच्छा असर नहीं पड़ता है।

३, प्रकृतिसौम्य—सुन्दर स्वभाव वाला धर्म के योग्य होता है। अर्थात्—पापकर्म, आक्रोश, बध और चोरी आदि करने का स्वभाव जिसका नहीं होता, वह पुरुष अपने शान्तस्वभाव से सब प्राणियों को आनन्दोत्पन्न कराने वाला हो सकता है, इसलिये धर्मरत्न की योग्यता प्रकृतिसौम्य पुरुष को ही प्राप्त होती है।

४, लोकप्रिय—संसार में जो लोक विरुद्ध कार्य हैं उनको छोड़ने वाला पुरुष लोगों में प्रियपात्र बनकर गुणग्राही बन सकता है। इहलोक विरुद्ध १, परलोक विरुद्ध २, और उभयलोक विरुद्ध ३, यह तीन प्रकार की विरुद्धताएँ हैं।

परापवाद, धार्मिक पुरुषों का हास्य, पूज्य वर्ग में ईर्ष्या, सदाचार का उल्लंघन, दाताओं की निन्दा और सत्पुरुषों को दुःख में डालने का प्रयत्न करना इत्यादि 'इहलेकविरुद्ध' कहा जाता है।

परलोक विरुद्ध वह है कि—पन्द्रह कर्मादान का व्यापार करना, यद्यपि व्यापार करना लोक विरुद्ध नहीं है तथापि हिंसक व्यापारों के करने से परलोक में सद्‌गति की प्राप्ति नहीं हो सकती, इससे हिंस्य व्यापारों का करना 'परलोक विरुद्ध' है।

जिन कार्यों के करने से इस लोक में निन्दा और परलोक में दुर्गति के दुःख प्राप्त हों उसे उभयलोक विरुद्ध कहते हैं। जैसे जुआ खेलना, मांसखाना, मदिरापीना, वेश्या गमन करना, शिकारखेलना, चोरी करना और परस्त्री से संभोग करना इत्यादि ये कार्य लोक में निन्द्य तथा तिरस्कार जनक और दुःख के दाता हैं। कहा भी है कि—

इहैव निन्द्यते शिष्टैर्व्यसनासक्तमानसः।
मृतस्तु दुर्गतिं याति, गतत्राणो नराधमः।।१।।

भावार्थ—व्यसनों में आसक्त मनुष्य इसी लोक में सत्पुरुषों के द्वारा निन्दा का भाजन बनता है और वह नराधम अशरण हो मर कर दुर्गति को प्राप्त होता है। अतएव व्यवसनों का सेवन करना 'उभयलोक विरुद्ध' है।

इसलिये लोक विरुद्ध कार्यों का त्याग करने वाला सबका प्रिय बनता है और लोक प्रिय ही मनुष्य का सदुपदेश सबके ऊपर असर कर सकता है।

५, अक्रूरता—मद मात्सर्य आदि दोषों से दूषित परिणाम वाला पुरुष धर्म का आराधन भले प्रकार नहीं कर सकता, इसलिये सरलपरिणामी मनुष्य ही धर्म के योग्य हो सकता है। क्योंकि—सरलस्वभाववाला मनुष्य किसी के साथ वैर विरोध नहीं रखता, यहाँ तक कि वह अपने अपराधी पर भी क्षमा करता है, इससे उसको धार्मिक तत्त्व सुगमता से प्राप्त हो सकते हैं।

६, भीरुता—पापकर्मों से डरते रहने को भीरुता कहते हैं। जिन कार्यों के करने से राजदंड, लोक में निन्दा, और परलोक में कुत्सितगतियों की प्राप्ति होती हो, वैसे कार्यों का त्याग करने वाला मनुष्य सुखों का भाजन बनता है। क्योंकि—भीरु मनुष्य भवभ्रमण से डरता हुआ असद् व्यवहार में प्रवृत्त नहीं होता, इसी से उसको सद्गति प्राप्त होती है।

७, अशठता—निष्कपट भाव रखना, अर्थात्—प्ररूपणा, प्रवर्त्तना और श्रद्धा इन तीनों को समान रखना, क्योंकि—जिसकी

रहनी कहनी समान होती है वही पुरुष अनेक गुणों का पात्र बनता है। जो लोग कपटपूर्वक हर एक धर्म क्रिया में प्रवृत्त होते हैं वे धर्म के वास्तविक फल को नहीं प्राप्त कर सकते, क्योंकि कपट क्रिया धर्म की हानि कारक है अतएव कपटरहित मनुष्य ही धर्म के योग्य है।

८, सुदाक्षिण्य—दूसरों को तिरस्कार करने का स्वभाव नहीं रखना, किन्तु परोपकार-परायण ही रहना। जो काम इसलोक और परलोक में हितकारक हों उसमें प्रवृत्ति रखना तथा किसी मनुष्य की प्रार्थना का भंग नहीं करना। क्योंकि—दाक्षिण्य गुणसंपन्न पुरुष अपने सदुपदेशों द्वारा सबका भला चाहता रहता है, किन्तु किसी को दुःख में डालने की योजना नहीं करता, इससे वह धर्म के योग्य हो सकता है।

६, लज्जालुता—देशाचार, कुलाचार और धर्म से विरुद्ध कार्य में प्रवृत्त न होने वाले को लज्जालु कहते हैं अर्थात्—मरणान्त कष्ट आ पड़ने पर भी स्वयं की हुई प्रतिज्ञा का भंग नहीं करना। लज्जावान् मनुष्य हजारों विपत्तियाँ होने पर भी अकार्य में प्रवृत्त नहीं होता इससे वह धर्म के योग्य हो सकता है।

१०, दयालुता—सब जीवों के ऊपर करुणाभाव रखना, और जो हीन दीन दुःखी जीव हैं, उनके दुःख हटाने का प्रतीकार करना। क्योंकि दयालुस्वभाव वाला ही मनुष्य धर्म के योग्य है सर्वज्ञ भगवन्तों ने अहिंसा धर्म को सब से उत्तम बताया है। जैसे पर्वतों में मेरु, देवताओं में इन्द्र, मनुष्यों में चक्रवर्त्ती, ज्योतिष्कों में चन्द्र, वृक्षों में कल्पवृक्ष, ग्रहों में सूर्य, जलाशयों में सिन्धु, और देवेन्द्रों में जिनराज उत्तम हैं उसी प्रकार समस्त व्रतों में श्रेष्ठ पदवी को अहिंसा ही प्राप्त करती है अर्थात् अहिंसा ही सबसे उत्तम है। क्योंकि जिस धर्म में दया नहीं वह धर्म ही नहीं है, दयालु पुरुष ही सर्वत्र समदृष्टि होने से आदेय वचन, पूजनीय, कीर्त्तिवान परमयोगी और परोपकारी आदि शब्दों से श्लाघाऽऽस्पद होता है, और महात्मा गिना जाता है। क्योंकि दयालु मनुष्य के पास धर्मेच्छु लोग निर्भय होकर धर्म प्राप्त करते हैं; जब कि शान्ति में लीन योगिराजों को इतर जीव देखते हैं तब वे भी जन्म-जात वैरभाव को जलाञ्जलि दे देते हैं, इसलिये

दयालुस्वभाव ही धरम की योग्यता को बढ़ा सकता है। जिस प्रकार शस्त्ररहित सुभट, विचारहीन मन्त्री, नायकरहित सेना, कला शून्य पुरुष, ब्रह्मचर्यरहित व्रती, विद्याहीन विप्र, गन्धहीन पुष्प, पतितदन्त मुख और पातिव्रत्यधर्मरहिता स्त्री, शोभा को प्राप्त नहीं होते हैं, उसी प्रकार दयालुस्वभाव के विना शुद्ध धर्म की भी शोभा नहीं हो सकती।

११, मध्यस्थसौम्यदृष्टि—पक्षपात और रागद्वेष रहित दृष्टि रखना अर्थात्—सब मतों में से 'कनकपरीक्षानिपुणपुरुषवत्' सद्वस्तु को ग्रहण करना, किन्तु किसी के साथ राग द्वेष नहीं रखना। इस गुणवाला मनुष्य सौम्यता से ज्ञानादि सद्गुणों को प्राप्त और गुणों के प्रतिपक्षभूत दोषों को त्याग कर सकता है, अतएव मध्यस्थ स्वभावी और सौम्यदृष्टि पुरुष ही धर्म के योग्य है।

१२, गुणानुरागी—गुणिजनों के गुण पर हार्दिक प्रेम रखना और गुणवान—साधु-साध्वी, श्रावक, श्राविका, और सन्मार्गानुसारी पुरुषों का बहुमान करना, यहाँ तक कि अपना अपकारी भी क्यों न हो, किन्तु उसके ऊपर भी द्वेषबुद्धि नहीं लाना, इसलिये गुणानुरागी हुए बिना पुरुष धर्म के योग्य नहीं हो सकता है।

१३, सत्कथक—वैराग्यभाव को उत्पन्न करने वाली तीर्थंकर, गणधर, महर्षि और उत्तमशील सम्पन्न सतियों आदि की कथा कहने वाला पुरुष धर्म करने के योग्य होता है। क्योंकि धार्मिक कथानुयोग के ग्रन्थ और सत्पुरुषों के जीवन चरित्र वाँचने से उत्तमता, सहनशीलता आदि सद्गुणों की प्राप्ती होती है, इसीलिये विकथाओं का त्याग करने वाला पुरुष भी धर्म के योग्य हो सकता है। अतएव सत्कथी पुरुष जिनसे कर्म का बंधन होता हो, ऐसी शृंगार की कथाओं से बिलकुल अलग रहता है, इससे उसको कर्मबन्धन नहीं होता है।

१४, सुपक्षयुक्त—जिसका कुटुम्ब परिवार, और मित्रवर्ग सदाचारी, गुणानुरागी, सुशील और धर्मपरायण तथा सत्संगी हो, वह सुपक्षयुक्तगुणवाला पुरुष कहा जाता है। सुपक्षवाला पुरुष

धार्मिक क्रियाओं को और सद्‌गुणों को निर्विघ्नता से प्राप्त कर सकता है, क्योंकि—अपने सदाचारी समुदाय के बल से वह अनेक गुणों को प्राप्त करता हुआ अन्य मनुष्यों को भी धर्मविलासी बना सकता है।

१५, दीर्घदर्शिता—जिस कार्य का भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान काल में सुन्दर परिणाम हो, वैसा कार्य करना, और जिस कार्य की सज्जन लोग निन्दा करें अथवा जिसका परिणाम (फल) उपहास या दुःख का कारक हो उसका परित्याग करना। क्योंकि दीर्घदर्शी पुरुष ही अपनी उत्तमता से उभयलोक में प्रशंसा का पात्र बन कर सुखी होता है।

१६, विशेषज्ञता—वस्तुधर्म के हिताऽहित, सत्याऽसत्य, तथा साराऽसार को जानकर गुण और दोष की परीक्षा करना। अर्थात् विशेषज्ञ (विवेकवान्) पुरुष आग्रह को छोड़कर निष्पक्षपात बुद्धि से सत्यमार्ग में अपनी श्रद्धा को स्थापित करता है, इससे उसका आत्मा दुर्गति का भाजन नहीं बन सकता।

१७, वृद्धानुग—सदाचारी, विवेकवान् उत्तम पुरुषों के मार्गानुसार वर्त्तना, अर्थात् अशुभाचार और दुर्गतिदायक कार्यों से रहित हो, पूर्वाचार्यों के उत्तममार्ग में प्रवृत्ति करना वह 'वृद्धानुग' गुण कहा जाता है। शिष्ट पुरुषों की परम्परा के अनुकूल चलने वाला पुरुष उत्तमोत्तम सद्‌गुणों का पात्र बनता है, क्योंकि—उत्तमाचरण से अधम मनुष्य भी उत्तम बन सकता है, अतएव शिष्ट पुरुषों के मार्ग पर चलने वाला ही धर्म के योग्य हो सकता है।

१८, विनयवान्—माता, पिता और धर्माचार्य तथा श्रीसंघ आदि पूज्य पुरुषों की आदर से सेवा भक्ति करना, और पूज्यवर्गों की आज्ञा का उल्लङ्घन नहीं करना और नम्र-स्वभाव से बरतना वह 'विनय' गुण कहा जाता है।

विनयवान् मनुष्य बहुत शीघ्र उत्तरोत्तर सद्‌गुणों को प्राप्त करता है। देखिये विनय के द्वारा तपस्वियों को पुण्य प्राप्ती होती है, सुखाभिलाषी पुरुषों के लिये संपदा अनुकूल होती है, और योगी लोगों के लिये भी मुक्ति का परिणाम प्राप्त होता है, फिर कहिये विनय—पूज्यपुरुषों को, या किसी भी पुरुष को प्रिय क्यों न हो ?। विनीत शिष्यों को ही गुरु महाराज शास्त्रों और परम्परागत

सामाचारियों के भेद (रहस्य) बतलाते हैं, विनीतपुत्रों को ही माँ-बाप शुभाशीर्वाद देकर कृतार्थ करते हैं। इसी से कहा जाता है कि—विनय से ज्ञान, ज्ञान से दर्शन, दर्शन से चारित्र और चारित्र से मोक्ष (सदा शाश्वत सुख) प्राप्त होता है। जहाँ विनय का अभाव है वहाँ धार्मिक तत्त्वों की प्राप्ति नहीं हो सकती, और न कोई सद्‌गुण ही मिल सकता है, अतएव विनयवान् पुरुष ही धर्म के योग्य होता है।

१६, कृतज्ञता—उपकारी पुरुषों के उपकारों को नहीं भूलना। प्रत्येक मनुष्य को चाहिये कि—निरन्तर कृतज्ञ गुण को धारण करें, किन्तु कृतघ्न नहीं बनें। जो लोग कृतज्ञ होते हैं उनकी प्रशंसा होती है, और सब कोई उनके सहायक बनते हैं। संसार में माता-पिता, कलाचार्य (विद्यगुरु) और धर्माचार्य आदि परमोकारी कहे जाते हैं।

माता-पिता अनेक कष्ट उठाकर बचपन में पालन-पोषण करते हैं, और सुख-दुःख में सहायक बनते हैं।

कलाचार्य—पढ़ना-लिखना, व्याख्यान देना, बाद विषयक ग्रन्थों की युक्ति बताना, सांसारिक व्यवहार सिखाना इत्यादि शिक्षाओं को देकर उत्तमता की सीढ़ी पर चढ़ाते हैं।

धर्माचार्य—धर्म और अधर्म का वास्तविक स्वरूप दिखलाकर धर्ममार्ग में स्थित करते हैं, और दुर्गतिदायक खोटे मार्गों से बचाकर सुखैषी बनाते हैं।

इसलिये इन पूज्यपुरुषों के उपकार को कभी भूलना नहीं चाहिये। जो पुरुष इनके उपकारों को भूल जाता है, वह कृतघ्न कहलाता है, और वह सर्वत्र ही निन्दा का पात्र बनता है। मनुष्यों को चाहिये कि—पूर्वोक्त उपकारी पुरुषों की शुद्धान्तःकरण से सेवा करते रहें, और वे जो आज्ञा देवें उसके अनुसार चलते रहें, तथा ऐसा कार्य कभी न करें कि जिससे उनके कुल और कीर्ति को लाञ्छन लगे।

यों तो जन्म पर्यन्त सेवा करने पर भी माँ-बाप कलाचार्य और धर्माचार्य के उपकार रूप ऋण से मुक्त कोई नहीं हो सकता, परन्तु वे यदि विधर्मी हो, या धर्म में उनको किसी तरह की बाधा पड़ती हो तो उसको मिटाकर शुद्धधर्म में स्थिर किये जावें तो उपकाररूप ऋण से मुक्त होना संभव है। अतएव कृतज्ञगुणसम्पन्न मनुष्य ही धर्म के योग्य हो सकता है, न कि कृत उपकारों को भूलने वाला।

२०, परहितार्थकारी—हीन, दीन, दुःखी, और संसारदावानल से संतप्त प्राणियों का भला करने वाला पुरुष धर्म के योग्य अवश्य होता है, क्योंकि परहित करना यही मनुष्यों का यथार्थ धर्म है, जो लोग अनेक विपत्तियाँ सहकर भी परहित करने में कटिबद्ध रहते हैं, उन्हीं का जीवन इस संसार में सफल गिना जाता है।

इस संसार में कई एक मनुष्य नानाभाँति के भोजन करने में, कई एक सुगन्धित फूलमालाओं में, कई एक शरीर में चोवा चन्दन वगैरह द्रव्य लगाने में, रसिक होते हैं और कई एक गीत (गान) सुनने के अभिलाषी रहते हैं, कई एक द्यूत, विकथा, मृगया, मदिरापान आदि व्यसनों में आसक्त होते हैं, कई एक नृत्यादि देखने के उत्साही रहते हैं, कई एक घोड़ा, रथ, हाथी, सुखपाल आदि पर सवार होने में अपना जीवन सफल समझते हैं, परन्तु वे धन्यवाद देने योग्य नहीं है, धन्यवाद के योग्य तो वे ही सत्पुरुष हैं, जो निरन्तर पर हित करने में लगे रहते हैं। परहित करने वाला पुरुष दूसरों का हित करता हुआ वास्तव में अपना ही हित करता है, क्योंकि जब वह दूसरों का भला करेगा, और दूसरे जीवों के दुःख को छुड़ाकर सुखी करेगा, तब वे जीव उसको हार्दिक शुभाशीर्वाद देंगे, जिससे उसका भी भला होगा। पर हितार्थकारी मनुष्य महासत्त्ववाला होता है, इससे उसमें परोपकार में तत्परता, विनीतता, सत्य मन की तुच्छता का अभाव, प्रतिदिन विद्या का विनोद और दीनता का अभाव इत्यादि गुण स्वभाविक होते हैं।

जिस मनुष्य ने यथाशक्य भी दीनों का उद्धार नहीं किया, स्वधर्मी भाइयों को सहायता नहीं दी, और जिनेन्द्र भगवान् का स्मरण सच्चे दिल से नहीं किया। उनका जन्म व्यर्थ ही है। अतएव संसार में मनुष्य जन्म पाकर जहाँ तक बन सके सबका हित करने में उद्यत रहना चाहिये, जिससे अपनी आत्मा का उद्धार और जीवन की सफलता हो।

२१, लब्धलक्ष—ज्ञानावरणीय कर्म के कम होने से गहन से गहन शास्त्रीय विषयों और नीति वाक्यों को शीघ्र जान लेना अर्थात्—प्रतिजन्म में किये हुए अभ्यास की तरह, हर एक बात को समझ लेना 'लब्धलक्ष' कहलाता है। लब्धलक्षगुण सम्पन्न मनुष्य को हर एक बात समझाने में परिश्रम नहीं उठाना पड़ता, और थोड़े परिश्रम में बहुत समझाया जा सकता है, इसलिये इस गुणवाला

पुरुष सुशिक्षणीय होने से अल्पसमय में धार्मिक तत्त्वों का पारगामी हो जाता है और इसी से वह धर्म के योग्य भी होता है, किन्तु मत्सरी इस गुण से रहित होने से धर्म के योग्य नहीं होता।

पाठकगण! पूर्वोक्त सद्‌गुणों वाला मनुष्य अपनी योग्यता से धार्मिक रहस्यों को प्राप्त कर सकता है, परन्तु ईर्ष्यालु मनुष्यों में पूर्वोक्त सद्‌गुणों का बिलकुल अभाव होता है, इससे वे धार्मिक रहस्यों की प्राप्ति से शून्य रहते हैं, अतएव बुद्धिमानों को अपनी योग्यता बढ़ाने के लिये मात्सर्य दुर्गुण को सर्वथा छोड़ ही देना चाहिये।

इस भव में किये हुए अभ्यास के अनुसार गुण या दोषों की परभव में भी प्राप्ति होती है—

• • •

***जं अब्भसेइ जीवो,**
गुणं च दोसं च इत्थ जम्मम्मि।
तं परलोए पावइ,
अब्भासेणं पुणो तेणं।।६।।

शब्दार्थ—(जीवो) आत्मा (इत्थ) इस (जम्मम्मि) जन्म के विषे (जं) जिस (गुणं) गुण (च) और (दोसं च) दोष का (अब्भसेइ) अभ्यास रखता है—सीखता है (तेणं) उस (अब्भासेणं) अभ्यास से (तं) उस गुण और दोष को (परलोए) परलोक में (पुणो) फिर (पावइ) पाता है।

भावार्थ—यह आत्मा इस जन्म में जिन गुण और दोषों का अभ्यास रखता है, उन्हीं को भवान्तर में भी पाता है। अर्थात् इस जन्म में किये हुए अभ्यास के अनुसार अन्यजन्म में भी गुण और दोष का भाजन बनता है।

विवेचन—स्मृति पथ में दृढ़ीभूत करने के लिये एक वस्तु को वार वार याद करते रहना, अर्थात् इष्ट वस्तु की पूर्णता प्राप्त करने के लिये एक या अनेक क्रिया अवलंबन करने का नाम 'अभ्यास' है।

---

*यमभ्यसेज्जीवो, गुणं च दोषं चाऽत्र जन्मनि।
तं परलोके प्राप्नोत्य-भ्यासेन पुनस्तेन्।।६।।

यह एक साधारण नियम भी है कि—

करत करत अभ्यास के, जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत जातते, शिल पर परत निसान।।६।।

जैसे—बार बार कुए पर रस्सी के आने जाने से पत्थर के ऊपर निशान पड़ जाता है, उसी प्रकार मूर्ख मनुष्य भी अभ्यास को करते-करते विद्वान् बन जाता है।

कई जगह सुना जाता है कि—अमुक मनुष्य मूर्खकुल में उत्पन्न होकर अभ्यास के करने से सर्वत्र प्रतिष्ठा पाकर एक नियन्ता बन गया। इसमें तो कोई संदेह ही नहीं है, कि अभ्यास के आगे कोई कार्य दुःसाध्य हो, क्योंकि—अभ्यास की प्रबलता से निर्बल बलवान्, निर्गुणी गुणवान्, निर्धनी धनवान्, मूर्ख विद्वान्, सरागी वीतराग बन जाता है, अतएव यदि मनुष्य सच्चे मन से धार ले तो तीन भुवनपति—योगीन्द्र बन सकता है, अभ्यास के जरिये वाञ्छित वस्तु की प्राप्ति होते देर नहीं होती, इसी से कहा जाता है कि—'अभ्यासो हि कर्मसु कौशलमावहति' अर्थात् अभ्यास संसार में सब कुशलता को परिपूर्ण रूप से धारण करता है। जो लोग अभ्यास के शत्रु हैं वे लोग अभागी हैं, उन्हें किसी सद्‌गुण की प्राप्ति नहीं हो सकती, और न वे किसी उन्नति मय मार्ग पर आरूढ़ हो सकते हैं।

अभ्यास—टेव पाड़ना, परिचय करना, गिनती करना, भावना—पुनः पुनः परिशीलन (विचार) करना।

अभ्यास से ही सकलक्रिया में कुशलता प्राप्त होती है, यह बात लिखना, पढ़ना, गिनना, नृत्य करना, वगैरह सर्व कलाओं में अनुभव सिद्ध है। कहा है कि—अभ्यास से ही संपूर्ण कला और क्रिया आती हैं, तथा अभ्यास से ही ध्यान मौनव्रत आदि क्रियाएँ सहज में कर सकते हैं, अभ्यास से कौन बात होना कठिन है? निरन्तर विरति परिणाम का अभ्यास करने से परलोकगमन होने पर भी अभ्यास का संस्कार जमा रहता है।

इस पर शास्त्रकारों ने अनेक उदाहरण दिये हैं लेकिन यहाँ एक दो उदाहरण (दृष्टान्त) दिखाये जाते हैं कि—

'एक अहीर अपनी गौ के बच्चे को उठा कर नित्य जंगल में ले जाया करता था और शाम को फिर घर लाता था इसी तरह

अभ्यास करते करते दो-तीन वर्ष के बैल को भी वह अहीर उठाकर ले जाता और ले आता था।'

'एक राजकुँवर हाथी के बच्चे को प्रातः समय उठ कर निरन्तर उठाया करता था, इसी तरह नित्य उठाने का अभ्यास करने से वह बड़ा होने पर भी उस हाथी को हाथों में ऊँचा उठा लेता था'

इसी से कहा जाता है कि—अभ्यास से सब कुछ सिद्ध हो सकता है

अभ्यास—शब्द ध्यान और एकाग्रतापूर्वक चित्त को स्थिर रखना इन अर्थों में भी है। सांसारिक वृत्ति से विरक्त चित्त को स्वपरिणाम में स्थापित करने का प्रयत्न करना उस का नाम 'शुद्ध अभ्यास' है। मैत्री आदि का मूलाधान (वीजस्थापन) युक्त और गोत्रयोगी व्यतिरिक्त जो कुलयोगी आदि, उनको प्रायः शुभ अभ्यास होता है। जिसने योगियों के कुल में जन्म पाया है और उनके धर्मानुकूल चलता है, उसको कुलयोगी समझना चाहिये। सामान्यतः जो उत्तम भव्य किसी के ऊपर द्वेष नहीं रखने वाला, दयालु, नम्र, सत्यासत्य की पहचान करने वाला और जितेन्द्रिय हो उसको 'गोत्रयोगी' कहते हैं।

किन्ही आचार्यों ने तीन प्रकार का अभ्यास माना है। सतताभ्यास १, विषयाभ्यास २, और भावाभ्यास ३। माता-पिता आदि का विनय आदि करने को 'सतताभ्यास' कहते हैं, मोक्षमार्ग में श्रेष्ठतम (नायक) श्री अरिहंत भगवान की वारंवार पूजनादि में प्रवृत्ति को 'विषयाभ्यास' कहते हैं, भवभ्रमण से उद्विग्न होकर सम्यग् दर्शनादिक रूप भावों का पुनः पुनः परिशीलन (विचार) करने को 'भावाभ्यास' कहते हैं। यहाँ निश्चयनयानुसार सतताभ्यास और विषयाभ्यास ये दो युक्त नहीं हैं? क्योंकि माता-पिता आदि का वैयावृत्यादि स्वरूप सतताभ्यास करेंगे तो सम्यग्दर्शनादि के आराधन का अभ्यास न होने से धर्मानुष्ठान नहीं सध सकता, और अर्हदादि का पूजन स्वरूप विषयाभ्यास करने पर भावसहित भववैराग्य नहीं होने से धर्मानुष्ठान की मर्यादा नहीं प्राप्त होती। अतएव परमार्थोपयोग रूप धर्मानुष्ठान होने से निश्चय नय के द्वारा भावाभ्यास ही आदर करने योग्य है। और व्यवहारनय से तो

अपुनर्बन्धकादि में प्रथम के दोनों अभ्यास समाचरण करना आवश्यक है। क्योंकि—व्यवहारनयाभ्यास के विना निश्चयनयाभ्यास नहीं हो सकता; इसलिये सतताभ्यास और विषयाभ्यास करते करते भावाभ्यास प्राप्त होता है। तीव्रभाव से पाप को नहीं करना उसका नाम 'अपुनर्बन्धक' है। अपुनर्बन्धक में आदि पद से अपुनर्बन्धक की उत्तर अवस्था विशेष को भजने वाला मार्गाभिमुख और मार्गपतित तथा अवितरतसम्यग् दृष्टि आदि भी ग्रहण करना।

जैसा अभ्यास वैसा असर—

अभ्यस्त वस्तुओं का इतना दृढ़ संस्कार हो जाता है कि—वे भवान्तर में भी नहीं भूली जा सकतीं। जो लोग हमेशा सद्‌गुणों का ही अनुकरण किया करते हैं उनको भवान्तर में विशेष रूप से वे गुण प्रगट होते हैं। इसी प्रकार दुर्गुण का अभ्यास होने से दुर्गुण सद्‌गुण की अपेक्षा अधिकता से प्रादुर्भूत हुआ करते हैं। इस जन्म में दया दान उदारता विनय आदि सद्‌गुणों की प्राप्ती का अभ्यास करते समय यदि उसमें कुछ स्वभाव का परिवर्त्तन हो गया तो भवान्तर में भी सद्‌गुण प्राप्त होने पर भी कुछ परिवर्तन अवश्य हुए बिना नहीं रहेगा।

मनुष्यादि प्राणी बालक पन से अपने माता-पिता आदि के आचरणों को देख, प्रायः उसी तरफ झुक जाया करते हैं। अर्थात् वैसा ही व्यवहार सीख लेते हैं, और उसी के अनुसार प्रवर्त्तन करने लग जाते हैं, क्योंकि शुरू से उनको वही अभ्यास पड़ जाता है इसी से मनुष्यादि प्राणियों की जीवनयात्रा का मार्ग सर्वथा दूसरों के आचरणों पर निर्भर है।

इसके सिवाय पाश्चात्य विद्वानों ने इसका अनुभव भी किया है कि—यदि मनुष्य उत्पन्न होते ही निर्जन वन में रक्खा जावे तो वह बिलकुल मानुषी व्यवहार से विरुद्ध पशुवत् चेष्टा करने वाला बन जाता है। सुनते हैं कि—

किसी बालक को उसके उत्पन्न होने के कुछ समय बाद एक भेड़िया उठा ले गया और अपने निवास स्थान (भाठी-गुफा) में जा रक्खा, किन्तु उस बालक को भेड़िया ने खाया नहीं प्रत्युत अपने बच्चों की तरह उसको भी पालन किया। बहुत दिनों के बाद लोगों ने उसे

जंगल में फिरते देखा तब उसे बड़े यत्न से पकड़ कर ग्राम में ले गये तो वह बालक मनुष्यों के समान भाषा को न बोलकर भेड़िया के सदृश घुर घुर शब्द बोलता, और मनुष्यों को देख कर भाग जाता, तथा जीभ से चप-चप कर जल पीता, और उसी तरह खाया करता था। अर्थात् भेड़िया के समान ही उसके सब आचरण दीख पड़ते थे। इससे यह सिद्ध हुआ कि—मनुष्यादि प्राणियों का अभ्यासक्रम दूसरों के आचरणों के अधीन है, अर्थात्—'तुख्मे तासीर सोहबते असर' याने जैसा सहवास मिलता है वैसा ही अभ्यास कर लेता है और तदनुसार उसका स्वभाव भी पड़ जाता है। लिखा है कि—अंबस्स य निंबस्स य, दुण्हं पि समागयाईं मूलाइं। संसग्गेण विणट्ठो अंबो निंबत्तणं पत्तो।।1।।

भावार्थ—आम और नीम दोनों वृक्ष की जड़ें शामिल ही उत्पन्न हुई, परन्तु नीम की जड़ के संसर्ग से आम भी अपनी मधुरता के गुण से नष्ट होकर कडुआपन को धारण कर लेता है। अर्थात् उस आम का स्वभाव छूट जाता है, और परस्वरभाव के अधीन हो जाता है।

इसी तरह बालक भी संसर्गानुसार आचरणों को स्वीकार कर लेता है। इसलिये माता-पिता आदि को इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिये कि बालक—दुरात्माओं के संसर्ग से असद् व्यवहार का अभ्यासी न होने पावे क्योंकि जहाँ माता-पिता मोह के वश हो बालक को उत्तम शिक्षण में नहीं स्थापित करते वहाँ बालक जन्म से मरण पर्यन्त दुर्गुणी बन जाते हैं और उनका वह जन्म ही नष्ट हो जाता है। इससे बालकों को सुशील और सुशिक्षित लोगों के सहवास में रखना बहुत ही आवश्यक है। बालकों का हृदय कच्चा होता है इससे उनके हृदय में सद्‌गुण वा दुर्गुण की छाया बहुत ही शीघ्र दृढ़ीभूत हो जाती है। इससे माता-पिता और अध्यापकों को भी सद्‌गुणी होने की अत्यन्त आवश्यकता है, क्योंकि—बालकों का विशेष परिचय इन्हीं लोगों के साथ रहता है। इससे वे इनकी देखा-देखी ही अपनी भी प्रवृत्ति कर बैठते हैं। इससे पूज्यवर्गों को उचित है कि—अपने सहवासी बालकों के समक्ष अपनी कोई ऐसी चेष्टा न करें जिससे उनके हृदय दर्पण पर बुरा प्रतिभास हो, और बालकों को हमेशा सद्‌गुणी बनाने का प्रयत्न करते रहें, तथा निन्दा करने की आदत से बचावें। इस प्रकार की व्यवस्था रखने से

बालकों के सद्‌गुणी होने या उत्तमगुण संपादन करने का उत्साह नहीं नष्ट होता और सदा उत्तम अभ्यास में लीन रहते हैं।

पूर्वोक्त बातों के कहने का तात्पर्य यह हुआ—कि मनुष्य सत्समागम से सुधरता है और कुसंग से बिगड़ता है। जैसे—वारिस का जल मधुर या सुगन्धित वस्तुओं के संसर्ग से मधुरता या सुगन्धता को, और मलमूत्र या जहरीली वस्तुओं के संसर्ग से तदनुरूप स्वभाव को प्राप्त हो जाता है। उसी प्रकार मनुष्य का जैसा अभ्यास पड़ता है वैसी ही उसको उत्तमता अथवा अधमता प्राप होती है। 'जैसा आहार वैसा उद्‌गार' इस कहावत के मुताबिक यदि मनुष्य पराये दोषों की ओर ताक-ताक कर निन्दा करता रहेगा तो वह अवश्य दुर्गुणी हुए बिना नहीं रहेगा। क्योंकि—गुण और दोष का अभ्यास संसर्गाधीन है इसीलिये यहाँ पर अवसर प्राप्त कुछ सत्सङ्ग की महिमा दिखायी जाती है।

सत्—गुणवान का, सङ्ग—परिचय (सहवास) करने का नाम 'सत्सङ्ग' है। अच्छा मनुष्य, उत्तम ग्रन्थ, सुन्दर भाषण, सुयोग्य मण्डली, सुशिक्षित सभासद, उत्तम पाठशाला, सद्‌विचार और गुणसंपन्न चरित्र, इन सब को सत् पद से लक्षित (प्रकट) किया जा सकता है। उनका सङ्ग याने सोहबत, परिचय, प्रसङ्ग, अभ्यास, मनन, अवलोकन, निवास आदि अनेक प्रकार के सम्बन्ध सत्सङ्ग कहाते हैं। अर्थात्—अनेक तरह से सत्सङ्ग का सेवन किया जा सकता है।

शास्त्रकारों ने जो आर्यक्षेत्र, उत्तम कुल और उत्तम जाति में जन्म लेना अच्छा बताया है। इसका कारण यही है कि—उत्तम क्षेत्रादि में जन्म होने से आर्यजनों का समागम हमेशा मिलता रहता है, जिससे मनुष्यों का चित्त बाल्यावस्था ही से सद्‌गुणों की तरफ आकर्षित (खिंचा हुआ) बना रहता है, और निरन्तर सद्‌गुणों को प्राप्त करने का उत्साह बढ़ा करता है। इसलिये सत्संग की महिमा अवर्णनीय है, संसार में अनेक दुःखों से पीड़ित जीव मात्र के लिये सत्सङ्ग विश्राम स्थान हो इतना ही नहीं किन्तु प्रत्येक वस्तुगत सुख और दुःख का प्रत्यक्ष अनुभव करा कर महोत्तम पदाधिकारी बना देने वाला है। यहाँ पर एक ब्राह्मण का दृष्टान्त अत्यन्त मनन करने लायक होने से लिखा जाता है—

सत्समागम पर दृष्टान्त—

किसी सुयोग्य ब्राह्मण की अत्युत्तम भक्ति से सन्तुष्ट हो एक महात्मा बोले कि—हे विप्र! तूं क्या चाहता है?

विप्र विद्वान था उसने विचारा कि महात्मा संपूर्ण सुखानुभव कराने में समर्थ होते हैं इसलिये संसार में कौन सुखी है? इस बात का पहिले अनुभव करके पीछे वैसा ही सुखी होना माँगू तो ठीक होगा। ऐसा विचार कर ब्राह्मण ने कहा कि—महाराज! यदि आप प्रसन्न हुए हैं तो मुझे कुछ दिनों की अवधि दीजिये फिर जो चाहना होगा वह माँग लूंगा।

महात्मा ने उत्तर दिया कि यथेच्छा। ब्राह्मण सुखानुभव करने के लिये वहाँ से निकला और प्रथम राजवंशीय लोगों की सेवा में अपना समय व्यतीत करना आरम्भ किया, इससे कुछ दिन के बाद अनुभव हुआ कि—एक दूसरे की विभूति को छीनने के लिये प्रयत्न कर रहे हैं, एक दूसरे की ईर्षा में निमग्न हो और एक दूसरे को नष्ट करने का इरादा कर रहे हैं, निरन्तर कलह के सबब से क्षण भर भी सुखपूर्वक नहीं बैठ सकते। इस प्रकार की राजवंशियों की दशा देख ब्राह्मण, पण्डितों की सेवा में उपस्थित हुआ, तो थोड़े दिनों में ही उसको अनुभव हुआ कि—पण्डित लोग एक दूसरे की प्रशंसा सुन सहन नहीं कर सकते, वाद विवाद में पड़ कर शास्त्रविरुद्ध भी आचरण करते देरी नहीं करते, प्रतिवादी को किस प्रकार परास्त करना चाहिये? इसी परामर्श (विचार) में निमग्न बने रहते हैं, व्यर्थ बातों के ऊपर वाद विवाद कर बैठते हैं, अपना उत्कर्ष और दूसरों का अपकर्ष करने के लिये नवीन पुस्तकें बनाने में लगे रहते हैं, छात्रों को उपकारित्व भाव से विद्याध्ययन कराने में आनन्दित नहीं रहते और द्रव्य देने वालों को ज्ञानी ध्यानी वा उत्तम वंशोत्पन्न समझ कर पढ़ाने में दत्तचित्त रहते हैं। सिवाय अपने पाण्डित्य को संसार में प्रकट करने के और कुछ भी नहीं करते। इत्यादि बातों से पण्डितों की अवस्था देख कर ब्राह्मण व्यापारी वर्ग का सुखानुभव करने के इरादे से बाजार में आया और वहाँ व्यापारियों को लेन-देन का झगड़ा करते और न्यायान्याय का विचार न कर क्रय-विक्रय के मध्य में एक दूसरे की वञ्चना करते और मिथ्या बोलने का स्वाभाविक व्यवहार करते हैं, बल्कि भोजन करने का भी जिन्हें समय नहीं मिलता इस प्रकार लेतान में लगे देख ब्राह्मण घबराया और सोचने

लगा कि यहाँ तो हलाहल दुःख मचा हुआ है। इससे यहाँ पर सुखानुभव करने की कोई आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि जहाँ केवल दुःख ही उपलब्ध है वहाँ सुख की संभावना करना भी व्यर्थ है।

बाजार से निराश हो ब्राह्मण एक प्रतिष्ठित साहूकार की हवेली के समीप आया। यहाँ हवेली की तरफ दृष्टि डाली तो मालूम हुआ कि—इसमें एक श्रीमंत 'सेठ' गादी तकिया लगा कर आनन्दपूर्वक बैठा हुआ है और उसके आगे अनेक गुमास्ते काम कर रहे हैं, कई लोग सेठ की हाजरी बजा रहे हैं, अनेक पण्डित लोग स्तुति पाठ पढ़ रहे हैं, वन्दीजन नाना प्रकार का कीर्त्तन कर रहे हैं, और हाथी, घोड़ा, गाड़ी, इक्का बग्घी और हथियारबन्ध सिपाही आदि सजकर हाजरी में खड़े हुए हैं। इत्यादि धाम-धूम से संयुत सेठ को देखकर, ब्राह्मण मन में विचार करने लगा कि—बस यह सेठ सम्पूर्ण सुखी दिखाई देता है। इसलिये महात्मा से इसके समान सुख माँग लूं, परन्तु साथ ही भाग्यवश यह विचार उठा कि—एक वखत सेठ से मिल कर इसके सुख का निर्णय तो अवश्य कर लेना चाहिये, क्योंकि—अनिर्णीत विषय की याचना पीछे अहितकर होती है।

ऐसा हार्दिक विचार कर ब्राह्मण उस हवेली के भीतर जाने लगा कि चौकीदार ने उसे रोका, और कहा कि—'अरे! कहाँ जाता है?' ब्राह्मण ने जवाब दिया कि 'मैं सेठजी से कुछ पूछने के लिये जाता हूँ' चौकीदार ने कहा यहाँ ठहर, मैं सेठ साहब को इत्तला (सूचना) देता हूँ' ब्राह्मण दरवाजे पर खड़ा रहा, और चौकीदार ने भीतर जाकर सेठजी से कहा कि—'हजूर! एक ब्राह्मण आपसे मिलने को आया है, यदि आज्ञा हो तो उसको आने दूँ' सेठ ने जवाब दिया 'अभी अवकाश नहीं है'। चौकीदार ने वापिस जाकर ब्राह्मण से वैसा ही कहा तब वह बाहर ही एक चबूतरे पर बैठ गया।

इधर सेठ किसी कार्य के निमित गाड़ी में बैठ कर बाहर निकला, इस समय ब्राह्मण आशीर्वाद देकर कुछ पूछने का इरादा करता है, इतने में तो सिपाही लोगों ने उसे बन्द कर दिया, सेठ की गाड़ी रवाना हो गयी। कार्य होने के बाद सेठ पीछे लौट कर आया कि—फिर वह ब्राह्मण खड़ा हो कर कुछ पूछने लगा कि सेठ ने उसकी बात को न सुन कर, मुनीम से कहा 'इसको सीधा पेटिया

दिलवा दो।' हुक्म पाते ही मुनीम ने ब्राह्मण से पूछा कि तेरे को क्या चाहिये?। ब्राह्मण ने जवाब दिया कि—मैं तो सेठजी से केवल मिलना ही चाहता हूँ और कुछ नहीं। मुनीम ने सेठ के पास जाकर उसी प्रकार कहा, सेठ ने सोचा कि वह मेरे पास आने पर कुछ अधिक माँगेगा, और मुझे मिलने का अवकाश भी नहीं है। मुनीम को हुक्म दिया कि 'उसको दो चार रुपया देकर रवाना कर दो।' सेठ की आज्ञा पाकर मुनीम ने ब्राह्मण से वैसा ही कहा, किन्तु उसने तो वही पूर्वोक्त वचन कहा। तब मुनीम बोला कि—ब्राह्मण! तुम भूखे मर जाओगे तो भी सेठ तो मिलने वाला नहीं है।

ब्राह्मण सेठजी से मिलने के लिये दो तीन दिन तक भूखा बैठा रहा, सेठजी को खबर हुई कि ब्राह्मण केवल मुझ से मिलने के निमित्त ही भूखा मर रहा है। अन्त में सेठ ने बाहर आकर कहा कि—हे ब्राह्मण! बोलो क्या काम है? मुझे तो भोजन करने का भी अवकाश नहीं है, तथापि तुम्हारे आग्रह से आना पड़ा है। सेठ के वचनों को सुन कर ब्राह्मण समझ तो गया परन्तु विशेष स्पष्ट करने के लिये कहा कि—

मेरे ऊपर एक महात्मा प्रसन्न हुए हैं और वे मेरी इच्छा के अनुकूल सुख देने को तैयार हैं किन्तु प्रथम सुखानुभव कर सुख माँगने का मैंने इरादा किया है। इसलिये बतलाइये कि—'आप सुखी हैं या दुःखी?। अगर आप सुखी हों तो मैं महात्मा से आप के समान सुख माँगलूं।' सेठ ने कहा कि—अरे महाराज! मैं महा दुःखी हूँ, मुझे खाने-पीने या सुखपूर्वक क्षणभर बैठने तक का समय नहीं है, यदि मेरे समान सुख माँगोगे तो आप महा दुःखी हो जाओगे, अत एव भूल कर भी मेरे समान सुखी होने की याचना मत करना। बस, इस प्रकार सुनते ही तो ब्राह्मण अन्यत्र सुखानुभव करने की आशा से निराश हो विचारने लगा कि—

वस्तुगत्या संसार में महात्माओं के सिवाय दूसरा कोई मनुष्य सुखी नहीं दीख पड़ता। क्योंकि—संसार जाल महाभयङ्कर है, इसमें मग्न हो कर सुखी होने की अभिलाषा रखना सर्वथा भूल है। मनुष्य जब तक धन, स्त्री, पुत्र, क्षेत्र आदि की चिन्ता में निमग्न हो इधर-उधर भटकता रहता है, तब तक अनुपम आनन्ददायक और

सब दोषों से रहित मोक्षस्थान का अधिकारी ही नहीं बन सकता। क्योंकि भोग में रोग का, धन में राज्य का, मौन में दीनता का, बल में शत्रु का, रूप में जरा (वृद्धता) का, शास्त्र में वाद का, गुण में दुर्जन का और काया में काल का भय लगा हुआ है, अर्थात् मनुष्यों को संसार में सर्वत्र भय ही भय है, परन्तु निर्भय तो एक महात्मा का समागम ही है। जो कि सुख और दुःख का प्रत्यक्ष अनुभव कराने वाला है। इसीलिये संसार में सब संयोग प्राप्त हो जाते हैं, लेकिन सत्पुरुषों का समागम मिलना बहुत कठिन है। लिखा भी है कि—

मात मिले सुत भ्रात मिले।
पुनि तात मिले मनवंछित पाई।।
राज मिले गज वाजि मिले।
सब साज मिले युवती सुखदाई।।
लोक मिले परलोक मिले।
सब थोक मिले बैकुंठ सिधाई।।
'सुन्दर' सब सुख आन मिले।
पण 'सन्तसमागम' दुर्लभ भाई।।

अर्थात्—इस संसार में माता-पिता, पुत्र, भाई, स्त्री आदि अपनी मनसा के अनुकूल मिल सकते हैं, दिव्य राज, हाथी, घोड़ा, पायदल आदि सब साज मिल सकते हैं, लोक और परलोक सुधरने संबंधी सब सामग्रियाँ मिल सकती हैं, बहुत क्या कहें सब सुख सहज में प्राप्त हो जाते हैं, परन्तु मोक्षधाम में पहुँचाने वाला और समग्र उपाधियों का मिटाने वाला एक 'सत्समागम' का ही मिलना दुर्लभ हैं।

शास्त्रोक्तगुण संपन्न महात्मा इस संसार में विरले हैं, उनका समागम होना सहज नहीं है, जिन लोगों ने अखंडित दान, दया, संजम आदि सत्यव्रत पालन किये हैं और परापवाद से अपनी आत्मा को बचाकर सहनशीलता आदि सद्गुणों का अभ्यास किया है या करने का उत्साह जिनके हृदय में रहता है उन्हीं को सन्तसमागम मिलता है।

अशुभव्यापारों से रहित मन, वचन और काया इन त्रिकरण योग को जिसने स्थिर कर लिया है ऐसे योगीश्वर गाँव, नगर, अरण्य, दिवस, रात्रि, सोते या जागते सर्वत्र समभाव में रमण करते रहते हैं। कहा भी है कि—'आत्मदर्शी कुं वसति, केवल आतमशुद्धि' जो केवल आत्मनिष्ठ हुए हैं जो निज स्वरूप में ही रमण करते हैं ऐसे महात्माओं का निवास शुद्ध आत्मप्रदेश ही है अर्थात् उन्हें आत्मरमणता सिवाय निन्दा, ईर्षा, कषाय आदि अशुभ स्थानों में निवास करने की आवश्यकता नहीं है। शास्त्रकारों ने महात्माओं के लक्षण इस प्रकार लिखे हैं कि—

□ सत्पुरुषों के लक्षण—

उदारस्तत्तत्त्ववित्मत्त्व—संपन्नः सुकृताऽऽशयः।
सर्वसत्त्वहितः सत्य-शाली विशदसद्गुणः।।१।।
विश्वोपकारी संपूर्ण—चन्द्रनिस्तन्द्रवृत्तभुः।
विनीतात्मा विवेकी यः, स 'महापुरुषः' स्मृतः।।२।।

भावार्थ—उदार—जिनके हृदय में नीच लोगों की तरह 'यह मेरा यह तेरा' इत्यादि तुच्छ बुद्धि उत्पन्न नहीं हो और सारी दुनिया जिनके कुटुम्ब रूप हों १, तत्त्ववित्-स्वबुद्धि बल से साराऽसार, सत्याऽसत्य, हिताऽहित, कृत्याऽकृत्य, यावद् गुण और दोष की परीक्षा पूर्वक सत्यमार्ग का आचरण करते हों २, सत्त्वसंपन्न—स्वपुरुषार्थ का सदुपयोग करते हों, प्रारम्भ किये हुए कार्य को पार करें और आचरित प्रतिज्ञा को अन्तः पर्यन्त निर्वाह करने वाले हों ३, सुकृताऽऽशय—जिनका आशय निरन्तर निर्मल रहता हो, किसी समय दुर्ध्यान के वशीभूत न हों ४, सर्वसत्त्वहित—प्राणीमात्र का हित करने में दत्तचित्त रहते हों, और मन, वच, काया से नित्य सब का भला ही करना चाहते हों ५, सत्यशाली—जो अत्यन्त मधुर हितकारी वचन बोलते हों, प्राणसन्देह होने पर भी सत्य-सीमा का उल्लंघन नहीं करते हों और राज्यादि—सांसारिक पदार्थ प्राप्ति के लिये भी असत्य वचन नहीं बोलते हों ६, विशदसद्गुणी—उत्तम क्षमा, नम्रता, सरलता, सन्तोष, तप, संयम, सत्य प्रामाणिकता, निस्पृहता, और ब्रह्मचर्य आदि सद्गुण

धारण करने वाले हों ७, विश्वोपकारी—अनेक उपायों से प्राणियों का उपकार करने में प्रयत्न करते रहते हों, और सब से पूज्य होने पर भी निरहंकार रहते हों, किन्तु किसी का उपकार कर प्रत्युपकार (बदला) की इच्छा (दरकार) नहीं रखते हों ८, संपूर्ण चन्द्र मण्डल की तरह शुद्ध निरतिचार चारित्र धारक हों, समभाव (शान्त-रस) में लीन रहते हों और सब किसी को वैर-विरोध कम करने का उपदेश देते हों ६, विनीत—आचार्य, उपाध्याय, शिष्य, साधर्मिक, कुल, गण, शास्त्र, और चैत्य (जिन-प्रतिमा) आदि का यथार्थ विनय सँाचवते हों १०, विवेकी—राजहंस की तरह दोषों को तजकर गुणों का ही ग्रहण करते हों, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार आप्तप्रणीत निर्दोष मार्ग ही आचरण करते हों ११; इत्यादि गुण सम्पन्न ही 'महापुरुष' कहे जाते हैं।

न ब्रते परदूषणं परगुणां वक्त्यल्पमप्यन्वहं,
सन्तोषं वहते परर्धिसु पराबाधासु धत्ते शुचम्।
स्वश्लाघां न करोति नोज्झति नयं नौचित्यमुल्लङ्घय-
त्युक्तोऽप्यप्रियक्षमां न रचयत्येतच्चरित्रं सताम्।१।

भावार्थ—किसी मनुष्य के दोष न देखते हों १, दूसरों के अल्प गुणों की भी नित्य प्रशंसा करते हों २, दूसरों की वृद्धि या समृद्धि देख कर सन्तोष रखते हों ३, दुःखियों को देख कर करुणा (शोक) करते हों ४, आत्मप्रशंसा न करते हों ५, दुःखित होने पर भी नीति मार्ग को न छोड़ते हों ६, सभ्यता रखते हों ७, और अपनी निंदा सुन कर भी क्रुद्ध न होते हों ८, ये सब महात्माओं के चरित्र हैं। अर्थात्—जिन पुरुषों का आचरण दोष रहित हो, जो सच्चरित्रवान् तथा विद्या बुद्धि से संपन्न हो, जिनका अन्तःकरण निर्मल, तथा वाणी मधुर मनोहर प्रियंवदा हो, और जो जितेन्द्रिय सन्तोषी हो जिनका जीवन उच्च आदर्शमय हो, वे ही सज्जन पुरुष हैं, और यही सज्जन का लक्षण भी है। अतः सत्संगति संसार में मनुष्य के लिये स्वजीवन को उन्नत बनाने का, दिग्दिगन्तव्यापी यशोपार्जन करने का मार्ग तथा सन्तति को आनन्द प्राप्त कराने का पथ है।

सत्समागम से अनुभव मार्ग में प्रवेश हो कर अप्रतिम सुख प्राप्त होता है और पर वस्तुओं पर उदासीनता होती है। बाह्यदृष्टि का

अभाव, वैराग्यदृष्टि का पोषण और निर्दोष सत्यमार्गाभिमुख गमन होता है। मिथ्यामति का विनाश, शुभमति का प्रकाश और उत्तरोत्तर गुणश्रेणी में प्रवेश होता है।

इस प्रकार वह ब्राह्मण शास्त्रोक्त युक्तियों के द्वारा विचार करता हुआ और सांसारिक क्षणिक सुखों का अनुभव कर जगज्ञाल माया में मोहित न हो कर, छ महिना तक पर्यटन करने की प्रतिज्ञा पूर्ण हो जाने से उन्हीं महोत्तम सर्वत्र स्वतन्त्र परमोपकारी महात्मा के समीप आया और हाथ जोड़ कर विनयावनत भाव से कहने लगा कि—

अब हम सन्तसमागम पाया, निज पद में जब आया ।।टेर।। एक भूल के कारण मैंने, कितनी भूल बढ़ाया। अन्तर नयन खोल के देखा, तब निजरूप लखाया ।।अ.।।१।। इतने दिन हम बाहर खोजा, पास हि सन्त बताया। तिन कारन गुरु सन्त हमारे, छूवत नहीं धन माया।। अ.।।२।। सहस जन्म जो नजर न आवे, छिन में सन्त बताया। संतगुरु हैं जग उपकारी, पल में प्रभु दरसाया ।।अ.।।३।। तीन लोक की संपत सब ही, हिरदय में प्रकटाया। शिवानन्द प्रभु सब जग दीसत, आनन्द रूप बनाया ।।अ.।।४।।

हे महात्मन्! आप की अनुपम कृपा से मैंने छ महीने पर्यन्त भ्रमण कर अनेक स्थानों में सांसारिक विनाशी सुखों का अनुभव कर लिया, परन्तु किसी जगह सुख का अंश भी नहीं दिख पड़ा।

संसार में जिधर दृष्टि डाली जाय, उधर प्रायः दुःख ही दुःख है, किन्तु सुख नहीं है। मनुष्यादि प्राणी दुःखमय माया जाल में फंस कर अपने कर्मों के अनुसार अनेक प्रकार के शरीर धारण कर जन्म मरण सम्बन्धि असह्य क्लेशों को सहन करते फिरते हैं। संसार असार है और अज्ञान दशा से लोगों ने उसको स्वरूप मान रक्खा है, जैसे जल के अन्दर ऊँची-ऊँची लहरें उठती और तत्काल ही उसी में विलीन हो जाती हैं, इसी प्रकार भोग विलास भी चंचल और प्रकृष्ट दुःख दायक हैं। यह युवावस्था भी स्वल्पकालगामी ही है, स्वजनादिक में प्रीति भी चिरस्थायी नहीं है, इन्द्रियों की शक्ति भी प्रबल नहीं रहती, और इच्छाओं की पूर्त्ति भी परिपूर्ण नहीं हो सकती। क्योंकि जो मनुष्य अपनी इच्छाओं को बढ़ाता रहता है

उसको शान्ति कभी नहीं हो सकती ? जैसे अग्नि पर जितना घी डालोगे उतनी ही वह अग्नि बढ़ती जायेगी। इसी तरह इच्छाओं को बढ़ाने में जो सदा लगा रहता है, उसका चित्त प्रतिसमय उद्विग्न और इच्छाओं की पूर्ति न होने से महा दुःखी बना रहता है। इसी भावार्थ का यह श्लोक भी है—

'न जातु कामः कामाना—मुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव, भूय एवाभिवर्द्धते'।।१।।

इससे यह संसार अध्यात्मदृष्टि से केवल दुःखात्म और नीच गति दायक ही दीख पड़ता है, परन्तु जिन महानुभावों के ऊपर सन्त महात्माओं की दया हो गयी है, वे महानुभाव संसार में स्थित रहने पर भी महात्माओं के समान स्वजीवन को व्यतीत करते हैं और सदा निर्भय रहते हैं। क्योंकि उन्हें सांसारिक विषयों से उदासीनता बनी रहती है, इससे वे संसार में लिप्त नहीं होते। अत एव हे कृपा निधान ! हे जगदुद्धारक ! हे मुनिशक्रचक्रचूड़ामणे ! अब मुझे आप अपने अनुसार शुद्ध मार्ग अर्पण कर अनुपम आनन्दाधिकारी बनाइये। क्योंकि—अब मुझे कोई भी आपके सिवाय दूसरा सुखी या सुखदायक नहीं दीख पड़ता और न कोई आपके सिवाय स्वजन बन्धु वर्ग ही है। अतः परं—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव,
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव,
त्वमेव सर्वं मम देवदेव!।।२।।

भावार्थ—हे देवदेव! महात्मन्! आप ही माता सदृश और आप ही पिता सदृश हैं, आप ही बन्धु और आप ही (उत्तम) मित्र सदृश हैं, आप ही विद्या और आप ही बल व धन सदृश हैं, आप ही सर्व-कुटुम्ब के समान हैं।

क्योंकि—सांसारिक कुटुम्ब तो विनाशवान् है किन्तु एक आपका ही समागम अविनाशी है, अर्थात् आपकी सेवा से ही अविनाशी अविच्छिन्न (शाश्वत) संपत्तियाँ प्राप्त हो सकती है। इसलिये आपकी सेवा में ही रह कर मैं अपना जीवन व्यतीत करना चाहता

हूँ; क्योंकि संसार रूपी दावानल में संतप्त जीवों के लिये आपका ही समागम विश्राम-स्थान होने से आनन्द कारक है।

इस प्रकार उस ब्राह्मण का चित्त संसार से उद्विग्न और वैराग्यवान देख कर विधिपूर्वक उन महात्मा ने उसको पारमेश्वरी दीक्षा दे दी। फिर वह ब्राह्मण सन्त सेवा में रह कर आत्मीय ज्ञान का संपादन करने लगा, एवं निरतिचार (निर्दोष) धर्मानुष्ठान का परिपालन करता हुआ शाश्वत सुख को प्राप्त हुआ।

❒ सत्संग की महिमा—

'सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम् ?

संसरणशील संसार में सज्जनों का संग क्या नहीं कराने योग्य है, अर्थात् इहलोक में सानन्द आयु को बिताकर अन्त में कैवल्य प्राप्ती कराने का यह एक ही उपाय है। शास्त्रकारों ने भी इस महिमा का वर्णन किया है कि—

'चन्दनं शीतलं लोके, चन्दनादपि चन्द्रमाः।
चन्द्रचन्दनयोर्मध्ये, शीतला साधुसङ्गतिः।।१।।
साधुसङ्गतयो लोके, सन्मार्गस्य प्रदीपकाः।
हार्दान्धकारहारिण्यो, भासो ज्ञान विवस्वतः'।।२।।

भावार्थ—संसार में चन्दन शीतल कहा जाता है, और चन्दन से भी विशेष चन्द्रमा शीतल माना गया है, परन्तु चन्दन और चन्द्रमा से भी उत्तम सत्संग ही बतलाया है। इस लोक में साधुसमागम ही सन्मार्ग का दीपक और चित्ताऽऽकाश में परिपूर्ण अज्ञानान्धकार घटा को दूर कर ज्ञानरूपी सूर्य का प्रकाश है।

वाचकवर्ग ! यह सत्संग की ही महिमा है कि नाना वृक्षलताओं से सुशोभित विविध फल पुष्पों से प्रफुल्लित रमणीय अरण्य में चन्दनवृक्ष के समीपवर्त्ती अन्य पादप भी चन्दन वृक्ष की अपूर्व सुगंध से चन्दनवृक्षवत् हो जाते हैं। सत्संगति की ही महिमा है कि—जो मणि सर्प के मस्तक पर रह कर नाना चोटों को खाया करती है पुनः वही राजा के मुकुट में वासकर सुशोभित हो सत्कार का भाजन बनती है। सत्संगति की ही महिमा का प्रताप है कि जो पुष्प अधम माली के हाथ से लालित पालित हुआ भी भगवान के शरण में

जाकर सब का आदरणीय होता है। जो लोहा अधम पुरुषों के हाथ में रह कर कभी अग्नि में जलाया जाता है, कभी मुद्‌गरों से पीटा जाता है और रात्रि दिवस असंख्य जीवों की हिंसा करने में लगा रहता है परन्तु उसको कहीं पारस पत्थर के साथ समागम हो जाय तब वह सुवर्णमय हो कर नृपतिवरों के कर कमलों में प्रतिदिन कङ्कण कुंडलादि पदवी पाकर विलास किया करता है इसी से कहा है कि—

'पारस और सत्संग में, बड़ो अन्तरो जान।
वह लोहा कञ्चन करे, वह करे सन्त समान'

सत्संग के विषय में एक कवि ने भी वर्णन किया है कि—

यदि सत्सङ्गनिरतो, भविष्यसि भविष्यसि।
यदि दुःसङ्गविषये, पतिष्यसि पतिष्यसि।।१।।
काचः काञ्चनसंसर्गाद्, धत्ते मुक्ताफलद्युतिम्।
तथा सत्सन्निधानेन, मूर्खो याति प्रवीणताम्।।२।।

भावार्थ—यदि सन्त समागम में निरत होंगे तो इहलोक में सुख प्राप्ति कर अन्त में परमपद के अधिकारी बनोगे यदि पुनरपि दुर्जन के सहचारी बनोगे तो नीचे ही गिर जाओगे, जिस प्रकार काँच कांचन के संसर्ग से मुक्ताफल की छवि को धारण करता है उसी प्रकार सत्संग से मूर्ख भी प्रवीण (बुद्धिमान) हो जाता है।

सत्संगति ही वाणी में सत्यता का प्रादुर्भाव करती है, और यही विद्वज्जनों में मानप्रदायिनी तथा पापप्रणाशिनी, शोकादि को दूर कर चित्त प्रसन्न करने वाली निखिल दिशाओं के मध्य में कीर्ति करने वाली है, जिस देश में सत्संगति का प्रचार है उस देश में सदैव सुख शान्ति तथा एकता की धारा मन्दाकिनी (स्वर्गगंगा) की धारा की समान आनन्द की लहरें लेती हुई बहा करती है, और उस देश के वासी स्वप्न में भी दुःख के भागी नहीं होते, तथा उस देश की उन्नति को देख देव, गंधर्व, किन्नर आदि आकाश में विराजमान हो कीर्ति का गान करते हैं। जिस देश के पुरुष सज्जन पुरुषों के अनुकूल नहीं चलते या जिस देश में सज्जन पुरुषों का आदर नहीं है, अथवा जिस देश में सज्जन पुरुषों का वास नहीं है, उस देश को जड़ता, द्वेष,

कलह; अशान्ति आदि दोष शीघ्र ही नष्ट कर देते हैं। परस्पर क्रोध बढ़ जाने से भ्राता-भ्राता में, पुत्र-पिता में, माता-पुत्र में, भगिनी-भ्राता में, पति-पत्नी में लड़ाई उत्पन्न होकर उस देश, उस कुल और उस जाति का बहुत शीघ्र ही नाश हो जाता है।

इसलिये महानुभावो! यदि अपना, और अपने धर्म, देश, जाति का अभ्युदय करना चाहते हो तो असत्संग से दूर होने का उपाय तथा सज्जन पुरुषों की आज्ञा पालन और उनका आदर करना सीखो। जब तक सत्संग नहीं किया जायेगा तब तक अभ्युदय की अभिलाषा करना मृगतृष्णा के समान है। कहा भी है कि—

'सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः, स चेद् हातुं न शक्यते।
स सद्‌भिः सह कर्तव्यः, सङ्गः सङ्गाहिभेषजम्।।१।।'

भावार्थ—हर तरह से 'सङ्ग' त्याग करना चाहिये, किन्तु यह बहुत कठिन है, इसलिये वह सङ्ग सज्जनों का ही करना चाहिये, क्योंकि सङ्गरूपी सर्प का भेषज (औषधि) सत्सङ्ग ही है।

पाठकगण! इन सब बातों का परिणाम भी यही है कि—मनुष्यों को संसार का प्रत्यक्ष अनुभव करने के लिये सत्संगम करने का अभ्यास करते रहना चाहिये। जो निरन्तर सत्समागम करने में उद्यत रहते हैं वे उक्त ब्राह्मण की तरह अवश्य अपनी उन्नति कर सकते है; क्योंकि—अभ्यास से ही सब गुण साध्य हैं। कहा भी है कि—

अभ्यासेन क्रियाः सर्वाः, अभ्यासात्सकलाः कलाः।
अभ्यासाद्ध्यानमौनाऽऽदि, किमभ्यासस्य दुष्करम्?।।१।।

भावार्थ—अभ्यास से सब क्रियाएँ, अभ्यास से सब कलाएँ, और अभ्यास से ही ध्यान, मौन आदि होते हैं। संसार में ऐसी क्या बात है, जो अभ्यास से साध्य न हो? अर्थात्—अभ्यास से सब बात सिद्ध हो सकती है।

अतएव अपनी उन्नति होने के लिये प्रत्येक मनुष्यों को सद्‌गुणों का प्रतिदिन अभ्यास करना चाहिये, जिससे भवान्तर में भी सद्‌गुण की प्राप्ति हो।

• • •

परदोष ग्रहण करने से निरर्थक पाप का बन्ध होता है—

***जो परदोसे गिणहइ,**
संताऽसंते वि दुट्ठभावेणं।
सो अप्पाणं बंधइ,
पावेण निरत्थएणावि ।।१०।।

शब्दार्थ—(जो) जो मनुष्य (संताऽसंते वि) विद्यमान और अविद्यमान भी (परदोसे) दूसरों के दोषों को (दुट्ठभावेणं) राग द्वेष आदि कलुषित परिणाम से (गिणहइ) ग्रहण करता है (सो) वह (निरत्थएणावि) निरर्थक ही (पावेणं) निन्दारूप पाप से (अप्पाणं) आत्मा को (बंधइ) बाँधता है।

भावार्थ—जो लोग दुष्टस्वभाव से दूसरे मनुष्यों के सत्य वा असत्य दोषों का ग्रहण करते हैं वे अपनी आत्मा को बिना प्रयोजन व्यर्थ ही संसार भ्रमणरूप महायन्त्र में डालते हैं, अर्थात् दुर्गति का भाजन बनाते हैं।

विवेचन—निन्दा करना निरर्थक पाप है, अर्थात्—निन्दा करने से आत्मा में अनेक दुर्गुण पैदा होते हैं, जिससे आत्मा दुर्गति का भाजन बनकर दुःखी होती है। जो लोग अपनी जिह्वा को वश में न रखकर दूसरों की निन्दा किया करते हैं वे संसार में अत्यन्त दुःखी होते हैं। लोभ, हास्य, भय और क्रोध आदि अनेक प्रकार से निरर्थक ही पाप लगता है, निन्दा करने में प्रायः असत्यता अधिक हुआ करती है जिससे भवान्तर में निकाचित कर्म का बन्ध होता है, जिसका फलोदय रोते हुए भी नहीं छूट सकता। परापवाद से जिह्वा, मन और धर्म अपवित्र होता है, इसी से उसका फल कटु और निन्द्य मिलता है। निन्दा करने से यत्किञ्चित भी शुभफल नहीं मिल सकता, प्रत्युत सद्गुण और निर्मल यश का सत्यानाश होता है। क्योंकि निन्दा करना अविश्वास का स्थान, अनेक अनर्थों का कारण, और सदाचार का घातक है।

---

*यः परदोषान् गृह्णाति, सतोऽसतोऽपि दुष्टभावेन।
स आत्मानं बध्नाति, पापेन निरर्थकेनापि।।१०।।

इसी से शास्त्रकारों ने जातिचंडाल, कर्मचंडाल, और क्रोध चंडाल के उपरान्त निन्दक को चौथा चंडाल कहा है, क्योंकि निन्दा करने वाला पृष्ठ मांसखादक है, वह निरन्तर दूसरों के निन्दारूप मैल (विष्ठा) को साफ किया करता है। निन्दा करने वालों को परापवाद बोलने में बहुत आनन्द होता है, परन्तु वह आनन्द उनका भवान्तर में अत्यन्त दुःखदायक होता है। संसार में और पापों की अपेक्षा निन्दा करना महापाप है, इसी विषय की पुष्टि के लिये 'श्री समयसुन्दरसुरिजी' लिखते हैं कि—

निन्दा म करजो कोइनी पारकी रे,
निन्दाना बोल्यां महापाप रे।
बैर विरोध बांधे घणो रे,
निन्दा करतो न गिणे माय बाप रे।।
।। निन्दा. ।।१।।

दूर बलन्ती कां देखो तुम्हे रे?,
पगमां बळती देखो सहु कोय रे।
परना मेलमां धोया लूगड़ा रे,
कहो केम ऊजला होय रे?।।
।। निन्दा. ।।२।।

आप संभालो सहु को आपणी रे,
निन्दानी मूको पड़ी टेव रे।
थोड़े घणे अवगुणें सहु भर्या रे,
केहना नलिया चूवे केहना नेव रे।।
।।निन्दा. ।।३।।

निन्दा करे ते थाये नारकी रे,
तप जप कीधुं सहु जाय रे।
निन्दा करो तो करजो आपणी रे,
जेम छूटकबारो थाय रे।।
।।निन्दा. ।।४।।

गुण ग्रह जो सहु को तणा रे,
जेहमां देखो एक विचार रे।
'कृष्ण' परे सुख पामशो रे,
'समयसुन्दर' सुखकार रे।।

।। निन्दा. ।।५।।

इस पद्य का तात्पर्य यही है कि—दूसरों के दोष देखने की आदत छोड़ ही देना चाहिये, क्योंकि परदोष ग्रहण करने से केवल क्लेशों की वृद्धि ही होती है और तप जप आदि का फल नष्ट होता है। 'थोड़े घणे अवगुणें सहु भर्या' इस लोकोक्ति के अनुसार किसी में एक, तो किसी में अनेक दोष होते ही हैं, अतएव दूसरों के दोष न देखकर अपने ही दोषों का अन्वेषण करना चाहिये, जिससे कि सद्‌गुणों की प्राप्ति हो। जो पुरुष परापवाद आदि दोषों को छोड़कर, सब के गुणों को ग्रहण करता है वही सुखी होता है। कहा भी है कि—

यदीच्छसि वशीकर्तुं, जगदेकेन कर्मणा।
परापवादसस्येभ्य—श्चरन्तीं गां निवारय।।१।।

भावार्थ—जो एक ही कर्म (उपाय) से जगत मात्र को अपने वश में करना चाहते हो तो परापवाद (परनिन्दा) रूप घास को चरती हुई वाणी रूप गौ को निवारण करो, अर्थात् स्ववश में रक्खो।

वास्तव में जो मनुष्य प्रियवचनों से सबके साथ बात करता है, और स्वप्न में भी किसी की निन्दा नहीं करता, उसके वश में सब कोई रहता है। और जो दूसरों के अवगुणों को ही देखा करता है, उससे सारा संसार पराङ्‌मुख रहता है। अतएव जिस बात के कहने से दूसरों को अप्रीति होती हो यदि वह सत्य भी तो उसे न बोलो, क्योंकि वैसा वचन अनेक विपत्तियों को पैदा करने वाला है, इससे दूसरों के विद्यमान व अविद्यमान दोषों को छोड़कर नीचे लिखे सुशिक्षावचनों को धारण करना चाहिये।

१, 'सच्चरित्र बनो, धार्मिक बनो, शिष्ट बनो, क्योंकि जब तुम मृत्यु शय्या पर होगे तो शुभकार्यों के सिवाय और कोई शान्ति न दे सकेगा।'

२, 'जो वस्तु उत्तम होती है, उसका शीघ्र मिलना भी कठिन होता है। इसलिये उत्तमता की खोज में यदि कठिनता पड़े तो घबड़ाना नहीं चाहिये।'

३, 'मनुष्यों के साथ व्यवहार करने में सदा न्याय और निष्पक्षता का विचार रक्खो, और उनके साथ वैसा ही वर्ताव करो जैसा कि तुम अपने लिये उनसे चाहते हो।'

४, 'जो काम तुमको सौंपा गया है, उस को धर्म और सचाई से करो। उस मनुष्य के साथ कभी विश्वासघात न करो, जो तुम्हारे ऊपर भरोसा रखता है। चोरी करने की अपेक्षा विश्वासघात करना महापाप है।'

५, 'अपनी बड़ाई अपने मुह मत करो, नहीं तो लोग तुमसे घृणा करने लग जायेंगे। और न दूसरों को तुच्छ समझो, क्योंकि इसमें बड़ा भय है।'

६, 'कठिन उपहास मित्रता के लिये विष है क्योंकि जो अपनी जिह्वा को नहीं रोक सकता, अन्त में वह दुःख पाता है।'

७, 'किसी की विना परीक्षा किये उस पर विश्वास मत करो। परन्तु बिना कारण किसी को अविश्वासी भी न समझो।'

८, 'धार्मिक सत्पुरुषों को अमूल्यरत्न के समान सदा अपने पास रक्खो, या उनके पास रहो। सत्संग करना स्वजीवन को उच्चतम बनाना है।'

९, 'जो समय बीत गया वह फिर कभी न आवेगा; और जो दिन आने को है कौन जाने तुम उसे देख सकोगे या नहीं, इसलिये जो कुछ करना है उसे वर्त्तमान काल में करो जो बीत गया उस पर सोच मत करो, और जो आने वाला काल है उस पर भरोसा भी मत करो।'

१०, 'कोई काम कल पर न उठा रक्खो, क्योंकि ऐसा करने वालों को कल (स्वास्थ्य) कभी नहीं मिलता।'

११, 'आलस्य से दरिद्रता और दुःख उत्पन्न होता है। परन्तु परिश्रमी पुरुष दरिद्रता और दुःख को धक्का मार कर निकाल देता है।'

प्रिय पाठक! उक्त सुशिक्षावचनों से आत्मोन्नति बहुत शीघ्र हो सकती है इससे इनको तुम अपनी आत्मा में धारण करो और सज्जनता से व्यवहार करो, जिससे तुम्हारी आत्मा निरर्थक पापकर्म से बचकर सुखी बनें, यदि तुम परापवाद प्रिय बनोगे तो आत्मोद्धार कभी नहीं हो सकेगा।

• • •

जिससे कषायाग्नि शान्त हो वह मार्ग धारण करना चाहिये—

***तं नियमा मुत्तव्वं,**
जत्तो उप्पज्जए कसायऽग्गी।
तं वत्थुं धारिज्जा,
जेणोवसमो कसायाणं।।११।।

शब्दार्थ—(जत्तो) जिस कार्य से (कसायऽग्गी) कषायरूप अग्नि (उप्पज्जए) उत्पन्न होती हो (तं) उस कार्य को (नियमा) निश्चय से (मुत्तव्वं) छोड़ना चाहिये और (जेण) जिस कार्य से (कसायाणं) कषायों का (उवसमो) उपशम हो (तं) उस (वत्थुं) वस्तु को—कार्य को (धारिज्जा) धारण करना चाहिये।

भावार्थ—उस कार्य को अवश्य छोड़ना चाहिये जिससे कषायरूप अग्नि प्रदीप्त होती हो और उस कार्य को अवश्य आचरण करना चाहिये जिससे कषायों का उपशम हो।

विवेचन—जिसके निमित्त से अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्त चारित्र आदि उत्तम गुणों का विनाश हो जावे, तथा चौरासीलक्ष जीवयोनि में अनेक असह्य दुःखों का अनुभव करना पड़े उसका नाम कषाय है। कष—अर्थात् क्लेशों का जिससे आयलाभ हो सो कषाय कहलाता है जिस प्रकार अग्नि अपने अनुरूप संयोग को पा कर प्रदीप्त हुआ करती है, उसी प्रकार कषाय भी अपने अनुरूप संयोगों को प्राप्त हो प्रज्वलित हो उठते हैं, और उत्तम गुणों का घात कर डालते है। कषाय चार हैं—क्रोध १, मान २, माया ३, और लोभ ४। इन चार कषायों के विषय में शास्त्रकारों ने बहुत कुछ

---

*तद्नियमेन मोक्तव्यं, यस्मादुत्पद्यते कषायाग्निः।
तद्वस्तु धारयेद् येनोपशमः कषायाणाम्।११।

उपदेश दिया है, परन्तु यहाँ पर उसका दिग्दर्शन मात्र कराया जाता है।

क्रोध और उसका त्याग—

अनेक अनर्थों का कारण, बोधिवीज का घातक, दुरितों का पक्षपाती, नरक भवन का द्वार, और चारित्रधर्म का बाधक क्रोध है। कोटि वर्ष पर्यन्त की हुई तपस्या इसी क्रोध के प्रसंग से नष्ट हो जाती है, अत एव इसको शान्त करने का ही उपाय करते रहना चाहिये, क्योंकि क्रोध प्राणी मात्र में परिताप उपजाने वाला है। कहा है कि—

सवैया २३ सा—

रीस सुं जहेर उद्वेग बढ़े अरु,
रीस सुं शीश फूटे तिन ही को।
रीस सुं मित्र भी दाँत को पीसत,
आवत मानुष नाहिं कहीं को।।
रीस सुं दीसत दुर्गति के दुख,
चीस करन्त तहाँ दिन हिं को।
यों 'धर्मसिंह' कहे निशदीह,
करे नहिं रीस सोही नर नीको।।१।।

भावार्थ—क्रोध करने से एक दूसरों के ऊपर जहर—कुत्सित (खोटें) घाट मढ़ने के विचार करने पड़ते हैं और अनेक उद्वेग (मानसिकक्लेश) खड़े होते हैं; सैकड़ों लोगों के साथ वैर विरोध और माथा कूट (वकवाद) करना पड़ती है, क्रोधावेश में मनुष्य विश्वासी पर भी अप्रियता पूर्वक दाँत कड़ कड़ाता है; और क्रोधी जान कर पाहुना तरीके भी कोई उसके पास नहीं आता, न उसकी कोई यथार्थ सार संभाल कर सकता है। क्रोध के प्रभाव से ही आखिर खोटी गति में पड़कर नाना प्रकार के बध बन्धनादि दुःख देखना पड़ते हैं, इसलिये सज्जनों को उचित है कि क्रोध के वशवर्त्ती न हों, क्योंकि जो महानुभाव क्रोध नहीं करते वे ही उत्तम और सन्मार्गानुगामी हैं।

तिच्छन क्रोध से होय विरोधऽरु,
क्रोध से बोध की शोध न होई।

क्रोध से पावे अधोगति जाल को,
क्रोध चँडाल कहे सब कोई।।
क्रोध से गाली कही बढ़िबेढऽरु,
क्रोध से सज्जन दुर्जन होई।
यहे 'धर्मसिंह' कहे निशदीह,
सुनो भैया क्रोध करो मत कोई।।२।।

भावार्थ—अत्यन्त क्रोध करने से लोगों के साथ वैरभाव बढ़ता है और यशः कीर्ति का सत्यानाश हो जाता है, क्रोध के समागम से सद्ज्ञान व सम्यक्त्व दर्शन की शुद्धि नहीं हो सकती, क्रोध के योग से अधोगति—नरक तिर्यञ्च आदि नीच गति का जाल प्राप्त होता है, संसार में सभी लोग क्रोध को चांडाल के बराबर समझते हैं, जिसके सम्पर्क से मनुष्य अशुचि हो जाता है, गुस्सेबाज मनुष्य गाली गुप्ता देकर कंकास (कलह) के वशवर्त्ती होता है, क्रोध रूप अज्ञान के सबब से सज्जन पुरुष भी दुर्जन हो जाता है, इसलिये हे महानुभावो! क्रोध सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। क्योंकि यह अनेक सन्तापों का स्थान है। कहा भी है कि—

आप तपे पर संतपे, धन नी हानि करेह।
कोह पइट्ठे देह घर, तिन्नि विकार धरेह।।१।।

आत्म—शरीर रूप घर के अन्दर उठा हुआ क्रोध अपने को क्लेश, और दूसरों को सन्ताप तथा बाह्याभ्यन्तर धन की हानि रूप तीन विकार पैदा करता है। यह बात अनुभव सिद्ध है कि—मनुष्य को जब क्रोध उत्पन्न होता है तब वह थर थर काँपने लग जाता है, और उसके सारे शरीर पर पसीना या ललाई चढ़ जाती है, यहाँ तक कि उस समय में उसके सामने जो अत्यन्त प्रियमित्र भी कोई आ जाय तो भी वह शत्रुभूत मालूम होता है। इसी से कहा जाता है कि—'क्रोधो नाम मनुष्यस्य, शरीराद् जायते रिपुः' मनुष्यों के शरीर से ही क्रोध रूपी शत्रु पैदा होता है जिससे धर्म और कुल कलंकित हो जाते हैं। क्योंकि 'क्रुद्धोहन्याद् गुरुनपि' अर्थात् क्रुद्ध मनुष्य अपने गुरु को भी मारता है। इसलिये रोष में जो बुद्धि पैदा होवे उसका अवश्य त्याग करना श्रेष्ठ है, क्योंकि किंपालफल की तरह क्रोध का परिणाम अनिष्टकर है।

शास्त्रकारों ने इस विषय में क्रोधफलसंदर्शक अनेक दृष्टान्त दिये हैं। जैसे 'अच्चंकारी भट्टा' ने क्रोध के सबब से नाना दुःखों का अनुभव कितना किया है?* कल्पसूत्र जो प्रत्येक वर्ष पर्युषण महापर्व में बाँचा जाता है, उसमें भी प्रत्यक्ष एक चण्डकौशिक, का दृष्टान्त दीख पड़ता है, जो कि पूर्वभव में एक क्षुल्लक के ऊपर क्रोध करने से ही मर कर अतिनिकृष्ट तिर्यञ्चयोनिक सर्पजाति में उत्पन्न हुआ**। इत्यादि आख्यानों का मनन करने से साफ जाहिर होता है कि क्रोध का फल कितना दुःखप्रद और निन्दनीय है अतः सज्जन महानुभावो! क्रोध को छोड़ो और क्षमा रूप महागुण को धारण करो, क्योंकि क्षमा से जो कार्य सिद्ध होता है वह क्रोध से नहीं, इसमें कारण यह है कि संपूर्ण कार्य को पार लगाने वाली बुद्धि क्रोध के प्रसंग से नष्ट हो जाती है। इसलिये क्रोध को छोड़ कर सर्वाङ्ग सुन्दर क्षमागुण का अवलंबन करना चाहिये जिससे अनेक सद्गुणों की प्राप्ति हो।

मान कषाय—

मानी मनुष्य के अन्दर विद्या, विनय, विवेक, शील, संयम, सन्तोष आदि उत्तम गुणों का नाश होता है।

प्राप्त हुई वस्तुओं से अहंकार करने को मद, और बिना संपत्ति के ही केवल अहंकार रखने को मान कहते हैं।

मद आठ हैं—१ जातिमद—मातृ पक्ष का अहंकार करना, मेरी माता बड़े घराने की है, दूसरों की माता का तो कुछ ठिकाना नहीं है। २ कुलमद—पितृपक्ष का अभिमान रखना, हमारा पितृ पक्ष उत्तम राजवंशी है; दूसरों का कुल तो नीच है। ३ बलमद—अपने को जो सामर्थ्य याने पराक्रम मिला है उसकी प्रशंसा करे और दूसरों को घास-फूस के समान समझे। ४ रूपमद—सर्वाङ्ग सुन्दर सुरम्य रूप पाकर मन में समझे कि—मेरे समान संसार में रूप सौभाग्य दूसरे किसी को नहीं मिला है। ५ ज्ञानमद—अनेक प्रकार की विद्याओं को सीख कर या षड्दर्शनों के सिद्धान्तों के पारगामी हो कर मन में विचारे कि—मेरा पराजय कौन कर सकता है, मैंने सब पण्डित-समूहों का मद उतार दिया है मेरे सामने सब लोग बेवकूफ

---

* देखो अभिधानराजेन्द्र कोष के पहिले भाग का १८१ पृष्ठ।

** और चौथे भाग का वीर शब्द।

(मूर्ख) हैं। ६ लाभमद—मेरे समान भाग्यशाली कोई भी नहीं है, मैं खोटा भी कार्य उठाता हूँ तो उसमें लाभ ही मिलता है। ७ तपमद—संसार में मेरी की हुई तपस्या के समान दूसरा कोई नहीं कर सकता, मैं महा तपस्वी हूं, देखो तपस्या की उत्तमता से लोग मुझे खूब बाँदते, और पूजते हैं ऐसा दूसरों को कोई नहीं मानता इसलिये मैं ही महा तपोधन हूँ। ८ ऐश्वर्यमद—ठकुराई व संपत्ति या किसी ओहदे पर आरूढ़ हो कर घमंडी बन जाना, और दूसरे किसी की आज्ञा नहीं मानना, गद्दी का गधहा (गधा) बना रहना, दूसरों की और अपने पूज्य लोगों की प्रशंसा नहीं सहन करना, दूसरों को अपना सेवक समझना, और सब कहीं अपनी ही प्रशंसा की चाहना रखना।

ये आठों मद आठों बातों की प्राप्ति में अन्तरायभूत हैं अर्थात् जातिमद से नीच जाति, कुलमद से अधमकुल, बलमद से निर्बलता, रूपमद से कुरूपी अवस्था, ज्ञानमद से अत्यन्त अज्ञानता (मूर्खता); लाभमद से दरिद्रता, तपमद से अविरति दशा तथा ऐश्वर्यमद से निर्धनता और सब का सेवकपना प्राप्त होता है; अत एव सज्जनों को किसी बात का भी मद नहीं करना चाहिये, संसार में ऐसी कोई बात नहीं है जिसका मद किया जाय। लोगों की भारी भूल है कि थोड़ी सी योग्यता पाकर अहंकार के वशीभूत हो जाते हैं। परन्तु यह नहीं सोचते कि—

सवैया ३१ सा—

केई केइ बेर भये भूपर प्रचण्ड—भूप,
बड़े बड़े भूपन के देश छीन लीने हैं।
केई केइ बेर भये सुरभोनवासी देव,
केई केइ बेर निवास नरक कीने हैं।।
केई केइ बेर भये कीट मलमूत माहीं,
ऐसी गति नीच बीच सुख मान भीने हैं।
कौड़ी के अनंत भाग आपन विकाय चुके,
गर्व कहा करे मूढ़ देख दृग दीने हैं।।१।।

भावार्थ—अनन्त दुःखात्मक इस संसार में कई बार ये सकर्मी प्राणीगण प्रभावशाली राजा हो चुके हैं, और अनेक समय राजाओं के

देश छीन कर चक्रवर्ती राजा बन चुके हैं तथा कई बार चारों निकाय के उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ देवों में उपज चुके हैं, एवं कई बार नरक गति में पैदा हो कर असह्य दुःख सहन कर चुके हैं, इसी प्रकार कई बार मल मूत्र कर्दम आदि के मध्य में कीट योनि में उत्पन्न हो चुके हैं, कई बार अति निन्दनीय गतियों में निवास कर नाना दुःखों का अनुभव होने पर भी सुख मान कर रह चुके हैं, कई बार चौरासी लक्ष जीवयोनी रूप चौवटा के बीच में कौड़ी के अनन्त वें भाग में बिक चुके हैं। इसलिये हे मूर्खो! जरा दृष्टि देकर विचारो कि अब मद किस पर किया जावे, क्योंकि हर एक प्राणी की पूर्वावस्था तो इस प्रकार की हो चुकी है तो ऐसी दशा में गर्व करना नितान्त अयुक्त है और तीनों काल में इससे फ़ायदा न हुआ और नहीं होगा। देखो संसार में किसी का मान नहीं रहा, राजा रावण ने अभिमान से 'रामचन्द्र' जैसे न्यायनिष्ट महात्मा के साथ वैर-विरोध बढ़ा कर लङ्का का जयशाली राज्य खो दिया, और आखिर मर कर नरक कुण्ड में पड़ा तथा दुःखी हुआ, महात्मा 'बाहुबली' मुनि मुद्राधारण कर एक वर्ष पर्यन्त कायोत्सर्ग ध्यान में खड़े रहे, परन्तु अभिमान के सबब से उन्हें केवल ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ, किन्तु जब भगवान श्रीऋषभदेव स्वामीजी की भेजी हुई 'ब्राह्मी' और 'सुन्दरी' ने आकर कहा कि—'हे बंधव! गज ऊपर से नीचे उतरो, गजारूढ़ पुरुषों को केवल ज्ञान नहीं होता' इस प्रकार उत्तमोत्तम प्रभावशाली सुभाषित वचनों को सुन कर शान्तिपूर्वक विचार करने से 'बाहुबली' ने अपनी गंभीर भूल को स्वीकार कर लिया और विचार किया कि वास्तव में ये महासतियाँ ठीक कहती हैं मैं मानरूपी हाथी के ऊपर चढ़ा हुआ हूँ, इसी से अब तक मुझे केवल ज्ञान नहीं हुआ तो अब मुझ को उचित है कि इस मानगज से उतर कर अलग हो जाना चाहिये, ऐसा विचार के मिथ्याभिमान का त्याग किया, फिर क्या था तात्कालिक कैवल्य ज्ञान उत्पन्न हो गया।

पाठक! जो अभिमान दशा को छोड़ कर विनय गुण का सेवन करता है वह चाहे चक्रवर्त्ती हो या भिखारी, सब साधुभाव में एक समान है। इस विषय में यदि चक्रवर्त्ती यह शोचे कि मैं तो पहिले भी महाऋद्धिमान था, और अब भी सब का पूजनीय हूँ तो यह अभिमान करना व्यर्थ है क्योंकि यह आत्मा संसार में सभी पदवियों का

अनुभव अनेक बार कर चुका है। इसलिये संसार में धिक्कार के लायक एक भी प्राणी नहीं है, जो लोग अहङ्कार में निमग्न रहते हैं वे अपने पूर्वभवों का मनन नहीं करते, नहीं तो उन्हें अभिमान करने की आवश्यकता ही न पड़े।

शास्त्रकारों ने मान की महीधर के साथ तुलना की है। पर्वत में जिस प्रकार ऊँचे-ऊँचे शिखर होते हैं वे आड़े आ जाने से दुरवलम्ब हो जाते हैं, उसी प्रकार मान महीधर के भी अष्टमद रूप आठ ऊँचे ऊँचे शिखर हैं वे मनुष्यों के निज गुणों का विकास नहीं होने देते, और सद्गुण की प्राप्ति में अन्तरायभूत होते हैं। जिस प्रकार हाथी मदोन्मत्त होकर आलानस्तम्भ को और सघन साँकल को छिन्न-भिन्न करते देर नहीं करता, उसी प्रकार अभिमानी मनुष्य भी शमतारूप आलान-स्तंभ को और निर्मल बुद्धिरूप साँकल को तोड़ देता है। मानी पुरुषों के हृदय में सद्बुद्धि पैदा नहीं होती, क्योंकि अभिमान के प्रभाव से ज्ञानचक्षु आच्छादित रहते हैं, इससे उन्नदशा का सर्वथा विनाश हो जाता है। जो महानुभाव अहंकार के कारण सारी दुनिया में नहीं समाते वे भी बेंतभर (अल्पतर) कमरे में समाते देर नहीं करते। अत एव जो सत्पुरुष मान को छोड़ कर विनय गुण का अवलंबन करेंगे वे अनेक सद्गुणों और अनुपम लीला के भाजन बनेंगे।

माया और उसका त्याग—

माया एक ऐसा निन्दनीय दुर्गुण है जो बनी बनाई बात पर पानी फेर देता है, और लोगों में अविश्वासी बना कर लज्जास्पद कर देता है। वस्त्र त्याग कर जन्म पर्यन्त नग्न रहो, केशलुञ्चन करते रहो, जटाधारी बन जाओ, भूमि पर या लोहे के कीलों पर शयन नित्य करते रहो, अनेक प्रकार के व्रत प्रत्याख्यान करके शरीर का शोषण कर डालो, सकल शास्त्रों में पारगामी हो जाओ, ध्यान में स्थित रह कर वर्षों तक बैठे रहो, मौनमुद्रा धारन कर लो, परन्तु जब तक हृदयभवन से कपटरूप दावानल नष्ट नहीं हुआ तब तक पूर्वोक्त एक भी क्रिया फलदायक नहीं हो सकती। क्योंकि आचार्य हो या उपाध्याय, योगी हो या संन्यासी, साधु हो या गृहस्थ, क्रियापात्र हो या शिथिलाचारी, पंडित हो या मूर्ख, माया जाल तो सब के लिए दुःखदायक और मुक्तिमार्ग निरोधक ही है।

जिनेश्वरों ने यद्यपि एकान्तविधि और एकान्तनिषेध किसी बात का नहीं निरूपण किया और शरीरशक्ति प्रमाणे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, चतुष्टयी के अनुसार प्रवृत्ति करने की आज्ञा दी है। और पर्षद् में बैठकर उपदेश दिया है कि—'माया को छोड़ो! जहाँ तक निष्कपट भाव नहीं रखोगे वहाँ तक भला नहीं हो सकेगा। मल्लिजिनेन्द्र ने अपने पूर्वभव में कपट से तप किया जिससे उन्हें स्त्रीगोत्र बाँधना पड़ा, अतः कपट करना बहुत बुरा है' माया नरक कुण्ड में जाने के लिए सीढ़ी के समान है, स्वर्ग और अपवर्ग के सुखों को जलाने के लिए दावानल है, ज्ञानेन्दु को ढाँकने में राहु के समान है और सुकृतवल्ली को काटने के लिये कुठार (कुहाड़ी) है।

कुडिलगई कूरमई, सयाचरणवज्जिओ मल्लिणो।
मायावी नरोभुअगव्व, दिट्ठमत्तो वि भयजणओ।।

भावार्थ—मायावी पुरुष वक्रगति वाला, क्रूर (दुष्ट) बुद्धिवाला, सदाचरण से वर्जित अर्थात् उत्तम—आचार से रहित, मलिन हृदय वाला और सर्प की तरह देखने मात्र से भय उत्पन्न करने वाला होता है।

मायावी लोग ऊपर से प्रसन्नवदन और मधुर वचन बोलने वाले होते हैं किन्तु उनके हृदय में प्रतिक्षण माया रूप कतरनी चला करती है। भादों में चीभड़ा और जुआर के छोड़ देखने में अत्यन्त सुन्दर मालूम होते हैं परन्तु जब पशुओं (ढोरों) के खाने में आ जाते हैं तो उनके शरीर में 'मीणा' रोग पैदा कर मरण के शरण बना डालते हैं उसी प्रकार मायावी पुरुष भी अपना ऊपरी व्यवहार बता कर लोगों को फन्दे में डाल देते हैं और मरण तुल्य बना देते हैं।

दंभी लोग गुणी जनों का किसी समय कुछ छिद्र पाकर उसको विस्तार कर उनका अपवाद उडाने में चतुर हुआ करते हैं, और मायावी सत्य के तो शत्रु होते हैं,। जैसे भोजन के साथ खाई गई मक्खी खुद प्राणभ्रष्ट हो कर खाने वाले को भी वान्त (वमन) कराये बिना नहीं रहती, इसी तरह मायावी खुद धर्मभ्रष्ट हो कर दूसरों को भी धर्म से वैमुख बना डालते हैं। अतः गुणसंपत्ति की चाहना रखने वाले महानुभावों को माया (कपट) और मायावी लोगों का समागम सर्वथा त्याग करना चाहिए।

यदि कहा जाय कि—शास्त्रकारों ने कारणवशात् मायास्थान सेवने की आज्ञा क्यों दी है, क्या किसी कारणवश माया करने में दोष नहीं है ?।

इसका उत्तर यह है कि धार्मिक निन्दा मिटाने के लिए शास्त्राज्ञा से यथाविधि जो मायास्थान को सेवन किया जाता है वह मायास्थान ही नहीं है। क्योंकि उसमें अपना स्वार्थ कुछ भी नहीं है किन्तु जैन शासन की रक्षा है, इससे वह अमायीभाव है। आत्मप्रबोध ग्रन्थ के तीसरे प्रकाश में लिखा है कि—

य: शासनोड्डाहनिवारणाऽऽदि—
सद्धर्मकार्याय समुद्यत: सन्।
तनोति मायां निरवद्यचेता:,
प्रोक्त: स चाऽऽराधक एव सुज्ञै:।।१।।

भावार्थ—जो शासन की निन्दानिवारण आदि सद्धर्म कार्य के वास्ते उद्यत हुआ पुरुष निरवद्य (निर्मल) परिणाम से मायास्थान का सेवन करता है, वह महर्षियों के द्वारा आराधक ही कहा गया है।

इसलिए धर्म की अपभ्राजना (निन्दा) मिटाने के लिए जो 'माया' है वह माया नहीं समझना चाहिए, क्योंकि जहाँ जिनेन्द्र की आज्ञा है वहाँ किञ्चिन्मात्र भी दोष संभावित नहीं होता, जो जिनाज्ञा में दोष समझते हैं वे दिङ्मूढ़ और भवाभिनन्दी हैं, उनका भला नहीं हुआ और न होगा। इससे कारण की बातों को धूममार्ग में कभी नहीं लेना चाहिए, उत्सर्ग से तो सकल शास्त्रों ने मायास्थान सेवन करने का निषेध ही किया है। इससे जो सद्‌गुणी बनना हो, और आत्मनिस्तार करना हो तो माया का सर्वथा त्याग करो क्योंकि हर एक गुण की प्राप्ति निष्कपट भाव के बिना नहीं हो सकती।

लोभ और उसका त्याग—

अज्ञान विषवृक्ष का मूल, सुकृतरूप समुद्र को शोषण करने में अगस्त्य ऋषि के समान, क्रोधानल को प्रदीप्त करने में अरणिकाष्ठ के समान, प्रतापरूप सूर्य को ढाँकने में मेघसमान, क्लेशों का भवन, विवेकरूप चन्द्रमा का ग्रास करने में राहु के समान, आपत्तिरूप नदियों का समुद्र, कीर्त्तिरूप लता का विनाश करने को उन्मत्त हस्ति

के समान लोभ है। क्रोध से प्रीति का, मान से विनय का, माया से मित्रता का, और लोभ से प्रीति, विनय, मित्रता आदि सब सद्गुणों का नाश होता है। सब दर्शनकारों का यही मन्तव्य है कि लोभ से लाभ कुछ नहीं है प्रत्युत हानि तो अवश्य ही होती है। लोभ का यह स्वभाव ही है कि ज्यों-ज्यों अधिक लाभ हुआ करता है त्यों-त्यों उसका वेग अधिकाऽधिक बढ़ा करता है, और उस लोभ के नशे में आपत्तियाँ भी संपत्तिरूप जान पड़ती है। लोभी मनुष्य की इच्छा अपरिमित होती है जिसका अन्त ब्रह्मा भी नहीं पा सकता। सब समुद्रों में स्वयंभुरमण असंख्येय योजन प्रमाण का गिना जाता है उसका पार मनुष्य किसी काल में नहीं पा सकता, परन्तु किसी देव की सहाय मिल जाय तो उसका भी पार करना कोई भारी बात नहीं है, लेकिन हजारों देवेन्द्रों का सहाय प्राप्त होने पर भी लोभाम्बुधि का तो पार नहीं आ सकता। सर्वज्ञ भगवन्तों ने सूत्रों के द्वारा निरूपण किया है कि—

सुवण्णरूप्पस्स य पव्वया भवे,
सिया हु केलाससमा असंखया।
नम्स्स लुद्धस्स न तेहिं किंचि;
इच्छा हु आगामसमा अणंतिया।।

भावार्थ—एक लक्ष योजन प्रमाण सुमेरु पर्वत के बराबर स्वर्णमय और रूप्यमय असंख्यात पर्वत भी प्राप्त हो जाँय तो भी लोभी को उससे लवलेश भी तृप्ति नहीं हो सकती क्योंकि इच्छा आकाश के समान अनन्त है। जैसे आकाश अन्त रहित है, वैसे इच्छा भी अन्त रहित है।

जैसे किसी मनुष्य को 'संनिपात' हो जाता है तब वह अपने स्वभाव को भूल कर अनेक चेष्टा करने लगता है, उसी तरह लोभी मनुष्य भी नाना चेष्टाओं के चक्र में घूमने लग जाता है, और हिंसा, चोरी, झूठ, विश्वासघात आदि प्रयत्न कर लोभ का खड्डा पूरा करने में उद्यत बना रहता है, परन्तु तृष्णा की पूर्ति नहीं हो सकती। एक कवीश्वर ने लिखा है कि—

जो दश वीस पचास भये,
शत होत हजारन चाह जगेगी।

लाख करोड़ अरब्ब भये,
प्रथिवपति होनकी चाह थगेगी।।
स्वर्ग पाताल को राज कियो,
तृष्णा अति से अति लाय लगेगी।
'सुन्दर' एक सन्तोष विना,
शठ! तेरि तो भूख कभूँ न भगेगी।१।।

❑

तीनोंहिं लोक में अहार कियो,
अरु सर्व समुद्र पियो है पानी
और जठे[1] तठ ताकत बोलत,
काढ़त आँख डरावत प्रानी।
दाँत देखावत जीभ हलावत,
ताहिते मैं तोय डाकन जानी
खात भये कितनेई दिन,
हे तृसना! अजहू[2] न अघानी[3]।।२।।

लोभाम्बुधि में अनेक राजा, महाराज, सेठ, साहूकार, देव, दानव, इन्द्र आदि हाय हाय करते तना चुके हैं किन्तु तोभी तृष्णा मकिनी को सन्तोषित नहीं कर सके। स्वर्णमृग के लोभ से रामचन्द्र जी अनेक दुःखों के पात्र बने थे—इसी पर एक कवि ने कहा है—

असंभवं हैममृगस्य जन्मः,
तथापि रामो लुलुभे मृगाय।
प्रायः समापन्नविपत्तिकाले,
धियोऽपि पुंसां मलिनीभवन्ति।।१।।

भावार्थ—सुवर्ण का मृग होना असंभव है, यह जानते हुए भी रामचन्द्रजी मायामय मृग के लिए लोभी हुए। प्रायः करके जब विपत्ति आने वाली होती है तब लोभवश मनुष्यों की बुद्धि मलिन हो जाती है।

---

१ जहाँ तहाँ; २ अब भी; ३ तृप्त हुई।

स्त्रियों के लोभ से रावण और धवल सेठ, धन के लोभ से मम्मण और सागर सेठ, सातवें खण्ड के लोभ से 'ब्रह्मदत्त' चक्रवर्ती आदि अनेक महानुभाव संसार में नाना कदर्थनायें देख कर नरक कुण्ड के अतिथि बने हैं। अतः लोभ करना बहुत ही खराब है और अनेक दुर्गुणों का स्थान व संपत्तियों का नाशक है। जब तक सन्तोष महागुण का अवलम्बन नहीं किया जावे तब तक लोभ दावानल शान्त नहीं होता। संसार में प्राणीमात्र को खाते, पीते, भोग करते और धन इकट्ठे करते अनन्त समय बीत गया है परन्तु उससे हाल तक किंचिन्मात्र तृप्ति नहीं हुई और न सन्तोष लाये विना तृप्ति हो सकेगी। क्योंकि सन्तोष ऐसा सद्गुण है जिसके आगे तृष्णा का वेग बढ़ ही नहीं सकता, कहा भी है कि—

गोधन गज धन बाजिधन, अरु रत्न की खान।
जब आवत संतोष धन, सब धन धूर समान।।

भावार्थ—जगत में गौ, हाथी, घोड़ा आदि अनेक प्रकार का धन विद्यमान है और रत्नों की खानियाँ भी विद्यमान हैं, परन्तु वह सब धन चिन्ताजाल से आच्छादित होने से तृप्ति का कारण नहीं है, किन्तु लाभ के अनुसार उत्तरोत्तर तृष्णा का वर्द्धक है। इसलिए जब हृदय में सन्तोष महाधन संगृहीत होता है, तब बाह्य सब धन धूल के समान जान पड़ता है।

अत एव लोभदशा को समस्त उपाधियों का कारण समझ कर छोड़ना ही अत्युत्तम और अनेक सद्गुणों का हेतु है। कारण यह है कि तृष्णा का उदर तो दुष्पूर है उसका पूरना बहुत ही मुश्किल है। उत्तराध्ययन के ८वें अध्ययन में लिखा है कि—

कसिणं पि जो इमं लोयं, पडिपुणं दलेज्ज इक्कस्स।
तेणा वि से न संतु—से इ इ दुप्पूरए इमे आया। १६।

भावार्थ—'कपिलमुनि' विचार करते हैं कि यदि किसी पुरुष को समस्त मनुष्यलोक [और इन्द्रलोक का भी संपूर्ण राज्य] दिया जाय, तो भी उतने से भी वह सन्तोष को नहीं पाता, इससे तृष्णा दुष्पूर्य है अर्थात् इसकी पूर्ति के लिए संतोष के सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं।

इससे सन्तोष गुण का ही हर एक प्राणी को अवलम्बन करना चाहिये, क्योंकि—सन्तोष के आगे इन्द्र, चन्द्र, नागेन्द्र, और चक्रवर्त्ती की समृद्धियाँ भी तुच्छ हैं, सन्तोष में जो सुख का अनुभव होता है वह इन्द्रों को भी प्राप्त नहीं होता, संतोषी पुरुष मान, पूजा, कीर्त्ति आदि की इच्छा नहीं रखता, और सर्वत्र निस्पृहभाव से धर्मानुष्ठान करता है। जो लोग सन्तोष नहीं रखते, और हमेशा लोभ के पंजे में फसे रहते हैं, वे 'निष्पुण्यक' की तरह महादुःखी होकर और पश्चात्ताप करते हुए सब के दास बनते हैं।

'निष्पुण्यक' ने धन की आशा से देवरमण यक्षराज के मन्दिर में बैठकर जब मरना चाहा तब यक्षराज ने प्रत्यक्ष हो कर कहा कि—अरे! तेरे भाग्य में धन नहीं है, व्यर्थ ही यहाँ पर क्यों प्राणमुक्त होता है?। 'निष्पुण्यक' ने जबाब दिया कि यदि भाग्य में ही धन मिलना होता तो आपके पास मुझे आने की क्या आवश्यकता थी?, अतः मुझे धन दीजिए, नहीं तो आप ही के ऊपर प्राणत्याग कर दूँगा। यक्ष ने खिन्न हो कर अन्त में कहा कि—अरे मूर्ख! यहाँ पर निरन्तर प्रातः समय स्वर्णमय मयूर आकर नृत्य करेगा, और एक, एक स्वर्णमय पींछ (पक्ष) नित्य डालेगा उसको तूँ ले लेना। ऐसा कह कर यक्ष तो अदृश्य हो गया। तदनन्तर 'निष्पुण्यक' यक्ष के कथनानुसार नित्य एक, एक पाँख लेने लगा। ऐसे बहुत दिन व्यतीत होने पर लोभ का पूर बढ़ने से दुर्भाग्यवश 'निष्पुण्यक' सोचने लगा कि यहाँ कहाँ तक बैठा रहूँ, कल मयूर आवे तो पकड़ लूँ जिससे मेरा दरिद्र दूर हो जावे। ऐसा मानसिक विचार करके जब प्रातःकाल मयूर नाचने को आया कि—झट उसको पकड़ने के लिए दौड़ा, इतने में वह मयूर काकरूप होकर निष्पुण्यक के मस्तक पर चञ्चप्रहार दे कर उड़ गया, और जो पाँखें इकट्ठी की थीं वे सब कौआ की पाँखें हो गईं, जिससे वह 'निष्पुण्यक' अत्यन्त दुःखी हो पश्चात्ताप का पात्र बना और लोगों की सेवा चाकरी कर निर्वाह चलाने लगा, तथा संसार का कोपभाजन बना।

इस कथा का तात्पर्य यह है कि बुद्धिमानों को सन्तोषरूप महागुण को धारण करना चाहिए, और लोभदशा को छोड़ देना चाहिए, क्योंकि सन्तोष और शान्त गुण के प्रभाव से ही मौनीन्द्र व योगिराज जंगलबास कर मन वचन और काया की चपलता का

निरोध, तथा सांसारिक वासनाओं का प्रपञ्च छोड़ कर अनन्त सुखानुभव करते हैं। तथा सन्तोष के बल से ही सारा संसार वशीभूत होता है। शरीरारोग्यता का असाधारण औषध, दरिद्रता का वैरी, मोहराज के सैन्य को चूर्ण करने वाला, कामरूपी हस्ती का प्रहारकारक और द्वेषरूपी उन्मत्त हाथी को भक्षण करने वाला सिंह के समान एक सन्तोष ही है। अतएव जिसको सन्तोष प्राप्त हुआ है उसको तीनलोक का साम्राज्य हस्तगत समझना चाहिए, जो बात असन्तोषी को सैकड़ों उपाय से सिद्ध नहीं होती, वह सन्तोषी को बिना परिश्रम ही सिद्ध हो जाती है।

इसलिए तीन प्रकार की *एषणाओं की कनिष्ठ जाल से लपेटी हुई लोभदशा को घोर संसारवर्द्धिका और अनेक कष्टदायिका समझ कर सर्वथा त्याग देना ही चाहिए, और सन्तोष गुण का आश्रय ले कर अनेक सद्गुण और अनन्त सुख होने का सन्मार्ग पकड़ना चाहिए।

कषायों का त्याग अवश्य करना चाहिए—

कषायों के प्रभाव से ही यह आत्मा संसार में परिभ्रमण करता चला आया है और नाना गतियों में दुःख सहता रहता है। संसार में जो बध बन्धन आदि दुःख देखे जाते हैं, वे सब कषायों के संयोग से

---

* लोके मे वितताऽस्तु कीर्त्तिरमला लोकैषणेत्युच्यते;।
सच्छिष्यात्मजसंस्पृहा निगदिता पुत्रैषणा कोविदैः।
वित्तं मे विपुलं भवेदिति, हि तु ख्याताऽस्ति वित्तैषणा,
ता एता अपहाय मुक्तिपथिकः सन्न्यासमालम्बते।।१।।

भावार्थ—संसार में मेरी निर्मल कीर्त्ति फैले, अर्थात् सब जगह मेरी प्रतिष्ठा बढ़े,सब लोग मेरी निरन्तर स्तुति करते रहें और सब कार्यों में मेरी सफलता होवे इत्यादि आशा करने का नाम 'लोकैषणा' है १, अच्छे, अच्छे गुणवान, कुलवान, रूपलावण्यादिसंपन्न पुत्र, पुत्री व शिष्य हों इत्यादि विचारने का नाम 'पुत्रैषणा' है २, नाना प्रकार की संपत्तियाँ मुझे प्राप्त हों, और मैं धन से सब जगह प्रसिद्ध होऊँ; इत्यादि वांछा रखने का नाम 'वित्तैषणा' है। इन तीन एषणाओं को छोड़ कर मुमुक्षु लोग संन्यास अर्थात् योगाभ्यास का अवलंबन लेते हैं।

ही उत्पन्न होते हैं। देखिये कषायों के आवेश में ही मनुष्यादि प्राणी युद्ध करते हैं, और सम,विषम और भयङ्कर स्थानों में गमन करते हैं, तथा अनेक संबंध जोड़ते हैं, एवं राज्यादि समृद्धि का संग्रह करते हैं, और परस्पर एक दूसरे के साथ मात्सर्यभाव रखते हैं, इसी प्रकार गुणिजनों की निन्दा, धर्म की अवहेलना और असत्यमार्ग का आचरण करते हैं, तथा परस्पर वैर विरोध बढ़ाते हुए परस्पर एक दूसरे को बिना कारण कलङ्कित करते हैं, इत्यादि अनेक दुर्गुण कषायों के संयोग से आचरण करना पड़ते हैं, जिससे किया हुआ धर्मानुष्ठान भी निष्फल हो जाता है, और तज्जन्य फलों का अनुभव भी विवश होकर भोगना पड़ता है। इसी कारण से कषायसंपन्न मनुष्यों की पालन की हुई संजम क्रिया भी सफल नहीं होती, किन्तु प्रत्युत उसका फल नष्ट हो जाता है। लिखा है कि—

जं अज्जियं चरित्तं, देसुणाए अ पुव्वकोडीए।
तं पि कसायपमत्तो, हारेइ नरो मुहुत्तेणं।।१।।

भावार्थ—देशोन पूर्वक्रोड़ वर्ष पर्यन्त पालन किये हुए चारित्रगुण को मनुष्य कषायों से प्रमत्त होकर अन्तर्मुहूर्त मात्र में हार जाता है।

शास्त्रकारों ने कषायों के भेद इस प्रकार दिखाये हैं कि—

१. अनन्तानुबन्धी—क्रोध, मान, माया और लोभ। अनन्तानुबन्धी उसको कहते हैं जिसके उदय से सम्यक्त्वादि सद्धर्म की प्राप्ति न होवे और जो कदाचित् प्रथम सम्यक्त्व आया हो तो भी वह नष्ट हो जावे। अनन्तानुबन्धी क्रोध—पर्वत की रेखा समान, मान—पत्थर के स्तंभ समान, माया—कठोर बाँस की जड़ समान, और लोभ कृमि के रंग समान है। यह कषाय उत्कृष्ट से जावज्जीव तक रहता है, इसके उदय से देव गुरु धर्म के ऊपर यथार्थ श्रद्धा नहीं होने पाती और इसके उदय से बारंबार चारगति के दुःख प्राप्त होते हैं।

२. अप्रत्याख्यानी—क्रोध, मान, माया और लोभ। 'अप्रत्याख्यानी' उसको कहते हैं जिसमें विरति रूप परिणाम नहीं हो और समकित की प्राप्ती होने पर भी देश-विरति का उदय न हो। अप्रत्याख्यानी क्रोध पृथ्वी की रेखा समान, मान-अस्थिस्तंभ समान,

माया मेंढक शृंग समान, और लोभ नगर खाल (खात) के कीचड़ समान है। यह कषाय उत्कर्ष से एक वर्ष पर्यन्त रहता है, और तिर्यग्गति का निबंधक, एवं व्रतोदय का रोधक है।

३. प्रत्याख्यानी—क्रोध, मान, माया और लोभ। 'प्रत्याख्यानी' उसको कहते हैं जिस से चारित्र धर्म का नाश हो जाय। प्रत्याख्यानी क्रोध रेत की रेखा समान, मान काष्ठस्तंभ समान, माया-गोमूत्र समान और लोभ गाड़ी के खंजन (कीटा) समान है। इसकी स्थिति उत्कृष्ट से चार महीने की है और मरकर मनुष्य गति में जाता है।

४. संज्वलनीय—क्रोध, मान, माया और लोभ। 'संज्वलनीय' उसको कहते हैं जिस में परीषह और उपसर्ग आपड़ने पर जो साधुओं को भी औदयिकभाव में स्थापन करता है और जिससे 'यथाख्यातचारित्र' उदय नहीं होने पाता। संज्वलनीय क्रोध— जलरेखा समान, मान—तृणशलाका समान, माया—बाँस की छाल समान, और लोभ हलदी रंग समान है। इसका उदय उत्कर्ष से पन्द्रह दिन तक रहता है, और मरकर प्रायः देवगति में जाता है।

परनिन्दा, परस्त्रीगमन, परधनहरण आदि कारणों से क्रोध का उदय, दूसरों को घास, फूस समान तुच्छ समझने से मान का उदय, अपनी पूजा, सत्कार योग्यता की चाहना रखने से माया का उदय, और इन्द्रिय को अपने वश में न करने से लोभ का उदय होता है। इसी सबब से दर्शनसंस्थापक महर्षियों ने काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और हर्ष, इन छः अन्तरङ्ग शत्रुओं को जीतने के लिए बड़े जोर शोर से उपदेश दिये हैं, क्योंकि ये ही शत्रु प्रत्येक सन्मार्ग के घातक हैं।

जो स्त्री अपनी विवाहिता नहीं है, और न अपने स्वाधीन है, अथवा जिसका एक देश से या सर्वदेश से त्याग कर दिया है, उसके साथ विषयसेवन अथवा विषयसेवन की इच्छा करने को 'काम' कहते हैं। अपने और दूसरों के चित्त को परिताप उपजाने वाले हेतु को 'क्रोध' कहते हैं। खर्च करने योग्य सुस्थान में धन खर्च नहीं करना, मर्यादा से अधिक इच्छा का फैलाना, धन स्त्री कुटुम्ब के ऊपर अत्यन्त आसक्त रहना और अष्टप्रहर यह मेरा यह मेरा करते रहने को 'लोभ' कहते हैं। हठवाद, असदाग्रह और कुयुक्तिमय—

अज्ञानदशा में पड़ कर और मिथ्याभिमान में निमग्न हो सत्य बात को भी स्वीकार नहीं करने को 'मोह' कहते हैं। जाति, कुल, बल, रूप, ऐश्वर्य आदि के अभिमान से दूसरों को तुच्छ समझने को 'मद' कहते हैं। दूसरों को दुःखी देख कर और द्यूत, क्रीड़ा, मृगया (शिकार) आदि कुकार्यों में आनन्दित होने को 'हर्ष' कहते हैं।

काम से ब्रह्मचर्य का, क्रोध से क्षमा महागुण का, लोभ से सन्तोष का, मोह से विवेक का, और हर्ष से नीतिमार्ग का विनाश होता है। अत एव गुणवान् बनने का मुख्य उपाय यही है कि सर्व प्रकार से अकषायीभाव को धारण कर निरवद्य क्रियानुष्ठान करना। आत्मप्रबोध ग्रन्थ के तीसरे प्रकाश में लिखा है कि—

तत्तमिणं सारमिणं, दुवालसंगीऍ एस भावत्थो।
जं भवभमणसहाया, इमे कसाया चइज्जंति।।१।।

भावार्थ—समस्त द्वादशाङ्ग वाणी का तात्पर्य यही है, तथा सब धर्मों का तत्त्व भी यही है, और सब संजमपरिपालन का सार भी यही है कि संसार पर्यटन में सहायता देने वाले क्रोधादि कषायों का हर प्रकार से त्याग करना चाहिए।

इसलिए शान्तिमहागुण को धारण करने में सदा उद्यत रहना क्यों कि शान्तस्वभाव से क्रोध का, विनय भाव से मान का, सरलता से माया का, और सन्तोष महागुण से लोभ का नाश होता है। ग्रन्थकारों का यहाँ तक मन्तव्य है कि एक-एक कषाय का जय करने से क्रमशः सबका जय होता चला जाता है और अन्त में अकषायित्व भाव से संसार का अन्त हो जाता है। श्री आचाराङ्गसूत्र के तीसरे अध्ययन के चौथे उद्देशे में लिखा है कि—

जे कोहदंसी से माणदंसी, जे माणदंसी से मायदंसी, जे मायदंसी से लोभदंसी, जे लोभदंसी से पेज्जदंसी, जे पेज्जदंसी से दोसदंसी, जे दोसदंसी से मोहदंसी, जे मोहदंसी से गब्भदंसी, जे गब्भदंसी से जम्मदंसी, जे जम्मदंसी से मारदंसी, जे मारदंसी से णिरयदंसी, जे णिरयदंसी से तिरियदंसी, जे तिरियदंसी से दुक्खदंसी।

भावार्थ—जो क्रोध छोड़ता है वह मान को छोड़ता है, जो मान को छोड़ता है वह माया को छोड़ता है, जो माया को छोड़ता है वह

लोभ को छोड़ता है, जो लोभ को छोड़ता है वह प्रेम (राग) को छोड़ता है, जो प्रेम को छोड़ता है वह द्वेष को छोड़ता है, जो द्वेष छोड़ता है वह मोह को छोड़ता है, जो मोह को छोड़ता है वह गर्भवास से मुक्त होता है, जो गर्भ से मुक्त होता है, वह जन्म से मुक्त होता है, जो जन्म से मुक्त होता है वह मरण से मुक्त होता है, जो मरण से मुक्त होता है वह नरक गति से मुक्त होता है, जो नरकगति से मुक्त होता है वह तिर्यञ्चगति से मुक्त होता है, और जो तिर्यञ्चगति से मुक्त होता है वह सब दुःखों से मुक्त होता है।

सूत्रकार का यह कथन—सर्वमान्य हेतुगम्य और प्रशंसनीय है। जिसने क्रोध को जीत लिया है और शान्तता धारण कर ली है उनके दूसरे दुर्गुण क्रमशः आप ही नष्ट हो जाते हैं, फिर उनकी आत्मा कर्ममल रहित हो अनन्त सुखविलासी बन जाती है। इसी लिये—

से मेहावी अभिनिवट्टेज्जा कोहं च माणं च मांय च लोहं च पेज्जं च दोसं च मोहं च गब्भं च जम्मं च मरणं च तिरियं च दुक्खं च; एयं पासगस्स दंसणं उवरयसत्थस्स पलियंतकारस्स।

भावार्थ—इस प्रकार बुद्धिशाली महानुभावों को अनेक सद्‌गुणों के घातक क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेम, द्वेष, मोह आदि दोषों को दूर कर गर्भ, जन्म, मरण, नरक और तिर्यञ्चगति आदि के दुःखों से बचना चाहिए; यह तत्त्वदर्शी शस्त्रत्यागी संसारान्तकर्त्ता भगवान महावीर स्वामी का सर्वमान्य दर्शन रूप उपदेश है।

महानुभावो! कषायों की प्रबलता से शरीर दुर्बल हो जाता है, तथा अनेक दुःख और खेद देखना पड़ते हैं एवं दूसरों के अधिकार छीन लेने का पाप शिर पर लेना पड़ता है, और अपमान निर्लज्जता बध, हत्या, निष्ठुरता, वैर, विरोध आदि दोषों का उद्‌भव होता है जिससे मन में एक प्रकार की वेदना बनी रहती है, और अध्यात्मज्ञान तो नष्ट ही हो जाता है। इससे बुद्धिमानों को उचित है कि नित्यानन्द और अक्षय स्थान को प्राप्त करने के लिए ज्ञान दीपक से कषायरूप अंधकार को दूर करें, नीचभाव और दुर्गुणों को छोड़कर उत्तमभाव और सद्‌गुण अपने हृदय में स्थापन करें, स्वार्थ को त्याग करके परोपकार करने में सदा उद्यत रहें और कषायों का जय करके सदाऽऽनन्दी शान्तगुण में लीन हों, क्योंकि नरक और

तिर्यग्गति का रोधक और सर्व दुःखविनाशक शान्ति महागुण ही है, इसके अनुषङ्ग से अनेक अपरिमित सुख लीला प्राप्त होती है। और मनुष्य संसार में परिपूर्ण योग्यता प्राप्त कर सब का पूज्य बन जाता है।

शान्तस्वभाव से 'प्रसन्नचन्द्र' राजर्षी अष्टकर्म खपा कर मोक्ष सुख को प्राप्त हुए। 'दमसार' मुनि इसी शान्तभावना के बल से केवलज्ञान के अधिकारी बने हैं, और शान्तस्वभाव से ही 'अच्चंकारीभट्टा' इन्द्रादिकों की भी प्रशंसनीय हुई और स्वर्गसुखविलासिनी बनी है। शान्तरस में लवलीन होकर 'चण्डरुद्राचार्य' अनेक भवसंचित पापकर्मों का क्षय कर केवलश्री और मुक्तिरमणी के स्वामी बने हैं।

क्षमा, सद्विचार, सदाचार सेवन करने से कषायाग्नि शान्त होती है; और परनिन्दा, ईर्षा, कुत्सित व्यवहार, ममत्व, अपनी प्रशंसा व दूसरों का अपमान, परस्त्रीगमन, परधनहरण और वाचालता आदि दोषों के आचरण करने से कषायाग्नि बढ़ती है। इसलिए बुद्धिमान पुरुषों को परम शान्तगुण धारण कर कषायाग्नि को उपशान्त करने में ही सदा प्रयत्नशील बनना और परमात्मा वीर प्रभु के सदुपदेशों को आचरण कर सद्गुण संगृहीत करना चाहिए।

संसार में गुरुत्व की चाहना हो तो परदोषों का देखना सर्वथा छोड़ो—

• • •

*जइ इच्छह गुरुअत्तं,
तिहुअणमज्झम्मि अप्पणो—
नियमा। ता सव्वपयत्तेणं,
परदोसविवज्जणं कुणह।।१२।।

शब्दार्थ—(जइ) जो तुम लोग (तिहुअणमज्झम्मि) तीनों भुवन के मध्य में (अप्पणो) अपना (गुरुअत्तं) बड़प्पन (इच्छह) चाहते हो (ता) तो (नियमा) निश्चय से (सव्वपयत्तेणं) सर्व प्रयत्न से (परदोसविवज्जणं) परदोषों का वर्जन (कुणह) करो।

---

*यदीच्छथ गुरुकत्वं, त्रिभुवनमध्ये आत्मनो नियमात्।
तर्हि सर्वप्रयत्नेन, परदोषविवर्जनं कुरुथ।१२।

भावार्थ—भव्यो! यदि तुम्हें संसार में बड़प्पन की इच्छा हो और सब में अग्रगण्य बनने की इच्छा हो तो दूसरों के दोष निकालना छोड़ दो तो सब में तुम्ही को मुख्यपद प्राप्त होगा, और सद्गुणी बनोगे।

विवेचन—हर एक महानुभावों को यह इच्छा अवश्य उठती रहती है कि—हमारा महत्त्व बढ़े, हमारा स्वामित्व बढ़े, हमारा संमान (सत्कार) होता रहै और सर्वत्र हमारी यशः कीर्ति फैलती रहै। इसी आशा से संसार में सब कोई दुःसाध्य कार्यों को भी अनेक दुःख सह करके पार लगा कर उच्चतम उपाधि को संपादन करते हैं। चाहे साधु हो, चाहे गृहस्थ हो, सबकी प्रबल इच्छा वड़प्पनरूपी जंजीर से जकड़ी हुई रहती है। बहुत से मनुष्य तो उसी इच्छा का सदुपयोग कर शुभ फल उपार्जन करते हैं, और बहुत से उसका दुरुपयोग कर अशुभ फल प्राप्त करते हैं। कोई-कोई तो सब से ऊँची सीढ़ी पर चढ़ कर भी उस महोत्तम इच्छारूप बल का, मद मात्सर्य और गच्छममत्व आदि दोषों में निमग्न हो दुरुपयोग कर शुभ फल के स्थान में अशुभ फल संग्रह करते हैं। क्यों कि अज्ञानदशा नियम से कार्योत्साह और शुभ इच्छा रूप बल को समूल उच्छेदन कर डालती है, और वैर विरोध बढ़ा कर महा उपद्रव खड़ा कर देती है। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग आदि अज्ञान दशा से ही प्राणीमात्र इस दुःखमय संसारचक्र में पड़कर अनेक बार गोता खा चुके हैं और चौरासी लाख योनि में विवश होकर जन्म ले दुःख भोग चुके हैं। अज्ञानदशा से दुराचार की वृद्धि, असत्यमार्गों का पोषण, मात्सर्यादि दुर्गुणों की उत्पत्ति, धार्मिक रहस्य समझने का अन्तराय और कुबुद्धि पैदा होती है। मिथ्याभिमान से अपनी प्रशंसा और दूसरों की निन्दा करना, धार्मिक और जातिविरोध बढ़ाना भगवान के वचनों से विरुद्ध भाषण करना गुणिजनों के साथ मात्सर्य रखना, साधुजनों का अपमान करना और असत्पक्षों का आचरण करना, यह अज्ञानदशा की ही लीला है।

अज्ञान और ज्ञान—

अज्ञानी मनुष्य को हितकारक और अहितकारक मार्ग का ज्ञान नहीं होता और उसे जितनी उत्तम शिक्षाएँ दी जावें वे सब अहितकारक मालूम होती हैं। विद्वानों का कथन है कि—अन्धकार

और मूर्खता ये दोनों बराबर हैं क्योंकि—मूर्खता में निमग्न मनुष्य स्थूल पदार्थों को भी समझने में असमर्थ होता है, इसी तरह अन्धकारस्थित मनुष्य समीपवर्त्ती वस्तुओं को भी नहीं देख सकता। यहाँ तक कि अपने अवयवों को भी यथार्थरूप से नहीं देखता। इसी कारण से अन्धकार और मूर्खता (अज्ञान) इन दोनों की परस्पर तुलना में प्रायः घनिष्ट संबंध मालूम पड़ता है जैसे भूत, प्रेत, यक्ष, राक्षस, सर्प आदि भयानक प्राणियों का प्रकाश में अल्प भय भी उत्पन्न नहीं होता, परन्तु अन्धकार में उनका देखना तो अलग रहा, किन्तु स्मरण भी महा भयङ्कर मालूम पड़ता है, इसी प्रकार अज्ञानियों को कषाय, मात्सर्य, असत् श्रद्धा, आदि पिशाचों का भय हमेशा बना रहता है; क्योंकि अज्ञानियों का चित्त सत् असत्, धर्म, अधर्म आदि पदार्थों के विचार में दिग्मूढ़ बना रहता है, और जगह-जगह अनेक कष्ट उठाने पर भी सुख का अनुभव नहीं कर सकता। कास्तकार (किसान) लोग अज्ञान दशा से वित्तोपार्जन करने के लिए खेती-बाड़ी करके अनेक अनर्थ जन्य पापकर्म बाँधते हैं, रातदिन परिश्रम उठाया करते हैं, ग्रीष्मकाल का घाम और शीतकाल का शीत भी नहीं गिनते परन्तु सिवाय खर्च निकालने के दूसरा कुछ भी लाभ प्राप्त नहीं कर सकते। और साहूकार लोग किंचित् भी परिश्रम न उठा कर गादी-तकिया लगाकर दूकान पर बैठे-बैठे ही हजारों रुपये कमा लेते हैं, और उसको दान पुण्य, परोपकार आदि में व्यय कर मनुष्य जन्म को सफल करते हैं। इन दोनों में केवल ज्ञान और अज्ञान का ही भेद है, अज्ञानियों की जगह जगह पर दुर्दशा और उपहास तथा तिरस्कार होता है।

इसलिए गुण और दुर्गण को पहचानने के निमित्त सद्ज्ञान प्राप्त करने की पूरी आवश्यकता है, क्योंकि ज्ञान के विना साराऽसार की परीक्षा नहीं हो सकती। कर्त्तव्य क्या है?, अकर्तव्य क्या है?, सत्य क्या है?, असत्य क्या है?, जीव क्या है?, कर्म क्या है?, इत्यादि बातों का निर्णय, ज्ञान के बिना नहीं हो सकता, और स्वधर्म तथा परधर्म का स्वरूप भी मालूम नहीं हो सकता, अतः ज्ञानसंपादन अवश्य करना चाहिए। लिखा भी है कि—

भवविटपिसमूलोन्मूलने मत्तदन्ती,
जडिमतिमिरनाशे पद्मिनीप्राणनाथः।

नयनमपरमेतद् विश्वतत्त्वप्रकाशे,
करणहरिणबन्धे वागुरा ज्ञानमेव।।१।।

भावार्थ—भवरूप वृक्ष को समूल उखाड़ने में मदोन्मत्त हस्तीसमान, मूर्खतारूप अन्धकार को नाश करने में सूर्य के सदृश, समस्त जगत के तत्त्वों को प्रकाश करने में तीसरे नेत्र के तुल्य, और इन्द्रियरूप हरिणों को वश करने में पाश-जाल की तुलना रखने वाला एक ज्ञान ही है।

अज्ञानी परापवाद, मद, मात्सर्यादि दोषों में पड़ कर अधमता को प्राप्त करता है, और ज्ञानी सद्मार्ग का उपदेश दे कर और राग द्वेषादि दोषों को हटा कर उत्तमता प्राप्त करता है। सांसारिक और धार्मिक योजनाओं में विद्वान पुरुष जितना महत्व और यश प्राप्त करता है उतना मूर्ख हजारों रुपया खर्चकर के भी प्राप्त नहीं कर सकता। इसी से महर्षियों ने सद्ज्ञान को प्राप्त करने की परमावश्यकता बतलायी है।

ज्ञान बिना जीवादि पदार्थों का स्वरूप सामान्य तथा विशेष रूप से नहीं जाना जा सकता, और जीवादि स्वरूप जाने बिना दयाधर्म का पालन भले प्रकार नहीं हो सकता। 'श्रीदशवैकालिकसूत्र' में श्रीशय्यंभवसूरिजी महाराज ने लिखा है कि—'पढमं नाणं तओ दया' प्रथम जीवादि पदार्थों का ज्ञान करो, क्योंकि परिपूर्ण ज्ञान हुए बिना यथार्थ दयादानादि धर्म व्यवहार नहीं सध सकता। जितना ज्ञान होगा उतनी ही शुद्ध धर्म में प्रवृत्ति अधिक होगी, ज्ञान के बिना उपदेशादि का देना और तपस्यादि करना सार्थक नहीं है। सूत्रकारों ने तो यहाँ तक लिखा है कि—वस्तुतत्त्व को जाने बिना और वचनविभक्तिकुशल हुए बिना जितना धर्मोपदेश देना है वह असत्य मिश्रित होने से भवभ्रमण का ही हेतु है, इससे ज्ञानसहित धर्मोपदेशादि करना और क्रियानुष्ठान करना सफल और अनन्त सुखदायक है।

बहुत से अज्ञ जीव क्रियाडम्बर पर ही रंजित हो समझते हैं कि बस दया पालना, तपस्या वगैरह करना, यही मोक्षमार्ग है परन्तु शान्तस्वभाव से विचार करना चाहिये कि अकेली क्रिया उसका यथार्थ स्वरूप जाने बिना उचित फलदायक नहीं हो सकती। जैसे—शिल्प कला को जाने बिना गृह, मन्दिर आदि बनाना,

चित्रकला को सीखे बिना चित्रादि का बनाना और व्यापारादिभावनिपुर्ण हुए बिना व्यापार वगैरह का करना शोभाजनक और फलदायक नहीं होता, क्योंकि—जो जिस कला में निपुर्णता रखता होगा वही उसका फल प्राप्त कर सकता है, दूसरा नहीं। उसी तरह धार्मिक क्रियाओं में शोभा और उत्तम फल को वही पा सकता है जो कि उन क्रियाओं के यथार्थ उद्देश्यों को समझता है। इससे सभी अनुष्ठान ज्ञानपूर्वक उपयुक्त होने से महाफल प्रद है। बहुश्रुत हरिभद्रसूरिजी महाराज ने लिखा है कि—

क्रियाहीनस्य यद्ज्ञानं, ज्ञानहीनस्य या क्रिया।
अनयोरन्तरं ज्ञेयं, भानुखद्योतयोरिव।।१।।

भावार्थ—क्रियाहीन जो ज्ञान, और ज्ञानहीन जो क्रिया, इन दोनों के परस्पर सूर्य और खद्योत (पतंगिया) जितना अन्तर जानना चाहिए। ज्ञान तो सूर्य के समान है, और क्रिया खद्योत के समान है। क्रिया देश से आराधक, और ज्ञान सर्वाराधक है, ज्ञानरहित क्रिया करने वाला देश से आराधक है, ऐसा 'भगवती' में कहा है।

ज्ञानसहित क्रिया और क्रियासंयुत ज्ञान यही आत्मशुद्धि होने का और तत्वज्ञ बनने का मुख्य कारण है, इस प्रकार ज्ञान और क्रिया के सेवन से अन्तरङ्ग शत्रुओं का अभाव होकर महोत्तम पद प्राप्त होता है और महोत्तम शान्तगुण प्रगट हो कर सर्वमतावलम्बियों के ऊपर समभाव होता है। ज्ञान संपादन और क्रिया करने का प्रयोजन केवल इतना ही है कि—अपनी आत्मा कषाय शत्रुओं से मुक्त हो सब के साथ मैत्रीभाव रक्खे किन्तु किसी के दोषों पर न ताके।

क्रिया का या व्याख्यानादि का बाह्याडम्बर दिखाने मात्र से ही सत्तत्व की प्राप्ती नहीं हो सकती, जब तक उपशम भाव नहीं हुआ तब तक सब ढोंगमात्र है और जहां ढोंग है वहाँ मुक्तिमार्ग नहीं है। अत एव प्रत्येक धर्मानुष्ठानों को सफल करने के लिए प्रथम ज्ञान संपादन तदनन्तर क्रिया (शान्तगुण) में लवलीन होना चाहिए। यहाँ पर ज्ञान और अज्ञान का इतना स्वरूप दिखाने का हेतु यही है कि लोग अज्ञान-जन्य दोषों को ज्ञान से समझ कर और परदोष प्रदर्शन और निन्दा करने का लाभाऽलाभ जान कर महत्व प्राप्त करने के लिए अनीतिमय दोषों का सर्वथा त्याग करें। और जिनेन्द्र भगवान की उत्तम शिक्षाओं का आचरण करें।

वर्तमान जैन-जाति में अवनति दशा होने का मुख्य कारण यही है कि उसमें सद्ज्ञान और उत्तम शिक्षण का अभाव है, और कहीं किसी में कुछ ज्ञान पाया भी जाता है तो वह मात्सर्य से अच्छादित होने से उसका प्रभाव नहीं बढ़ता। क्योंकि जैन शास्त्रानुसार सद्ज्ञान वही है जिस से वैर विरोध का सर्वथा नाश हो कर मैत्री भावना का उद्भव हो। यदि ज्ञान प्राप्त होने पर भी असभ्य आदतें न मिटी तो वह ज्ञान नहीं किन्तु अज्ञान ही है। उत्तम ज्ञान के उदय से उत्तम-२ सद्गुण प्रगट होते हैं। कहा भी है कि—

ज्ञान उदय जिनके घट अन्दर,
ज्योति जगी मति होत न मैली।
बाहिर दृष्टि मिटी तिन के हिय,
आतमध्यान कला विधि फैली।।
जे जड़ चेतन भिन्न लखे,
सुविवेक लिये परखे गुण थैली।
ते जग में परमारथ जानि,
गहे रुचि मानि अध्यातम शैली।।१।।

भावार्थ—जिनके हृदय में असली ज्ञान का उदय होता है उनके हृदयभवन में परापवाद, परदोषनिरीक्षण आदि दोषों से परिवेष्टित—मलिन मति का नाश हो कर सुबुद्धि और दिव्यज्ञान ज्योति का प्रकाश होता है, बाह्यदृष्टि मिट कर सर्व दोषविनाशिका—अध्यात्मकला की विधि विस्तृत होती है, ज्ञानोदय से मनुष्य जड़ और चेतन की भिन्नता दिखाने वाले सद्विवेक को प्राप्त कर ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि सद्गुणों की थैली परीक्षा पूर्वक ग्रहण करते हैं और संसार में परमार्थ (तत्त्व) वस्तु को जान कर शुद्ध रुचि से अध्यात्म शैली को प्राप्त करते हैं। इसलिए महानुभावो!

परदोसं निराकिच्चा, न विरुज्झेज्ज केण वि।
मणसा वयसा चेव, कायसा चेव अंतसो।।

भावार्थ—मन वचन और काया से परदोषों को अलग कर किसी के साथ वैर विरोध न करो क्योंकि—परदोष बोलने और विरोधभाव रखने से अन्त में दुर्गति का भाजन बनना पड़ता है।

अत एव मन से किसी की बुराई न करो, वचन से किसी की निन्दा या दोषारोप न करो और काया से सर्वत्र शान्तिभाव फैलाने की कोशिश करो परन्तु जिस से कषायाग्नि बढ़े, वैसी प्रवृत्ति न करो। परदोष निकालता हुआ कोई भी उच्चदशा को प्राप्त नहीं हुआ किन्तु अधमदशा के पात्र तो करोड़ों हुए हैं। जो सब के साथ मैत्री भाव रखते हैं, यथाशक्ति परोपकार करते हैं और स्वप्न में भी परदोषों पर दृष्टि नहीं डालते वे सब के पूज्य बन कर महोत्तम पद विलासी होते हैं।

पुरुषों के भेद दिखा कर उनकी निन्दा करने का निषेध करते हैं—

• • •

चउहा पसंसिणिज्जा,
पुरिसा सव्वुत्तमुत्तमा लोए।
उत्तम-उत्तम उत्तम,
मज्झिमभावा य सव्वेसिं।।१३।।

• • •

जे अहम अहम-अहमा,
गुरुकम्मा धम्मवज्जिया पुरिसा
ते वि य न निंदणिज्जा,
किंतु तेसु दया कायव्वा।।१४।।*

शब्दार्थ—(लोए) संसार में (सव्वुत्तमुत्तमा) सर्वोत्तमोत्तम १, (उत्तम-उत्तम) उत्तमोत्तम २, (उत्तम) उत्तम ३, (य) और (मज्झिमभावा) मध्यमभाव ४, (सव्वेसिं) सब पुरुषों के (चउहा) चार

---

*चतुर्द्धा प्रशंसनीयाः पुरुषाः सर्वोत्तमोत्तमा लोके।
उत्तमोत्तमा उत्तमा, मध्यमभावाश्च सर्वेषाम्।।
ये अधमा अधमाधमा,
गुरुकर्माणो धर्मवर्जिताः पुरुषाः।।
तेऽपि च न निन्दनीयाः,
किन्तु दया तेषु कर्त्तव्या।१४।

प्रकार होते हैं (पुरिसा) चारों भेद वाले पुरुष (पसंसणिज्जा) प्रशंसा करने योग्य हैं। (य) और (जे) जो (अहम) अधम १, और (अहम—अहमा) अधमाऽधम २, (गुरुकम्मा) बहुल कर्मी, (धम्मवज्जिया) धर्ममार्गसे रहित ये दो प्रकार के (पुरिसा) पुरुष हैं, (ते वि) वे भी (निंदणिज्जा) निन्दनीय (न) नहीं हैं (किंतु) तो क्या?, (तेसु) उन पर भी (दया) दयालु परिणाम (कायव्वा) रखना चाहिये।

भावार्थ—प्रथम के चार भेद वालों की प्रशंसा करना, और दूसरे दो भेदवालों भी प्रशंसा न करते बने तो उनकी निन्दा को अवश्य छोड़ देना चाहिये।

विवेचन—संसार में अपने शुभाऽशुभ कर्म के संयोग से प्राणीमात्र को उत्तम, मध्यम और अधम दशा प्राप्त होती है और उसी के अनुसार उनकी मनःपरिणति शुद्धाशुद्ध हुआ करती है। जो लोग परनिन्दा, परदोषारोप, परसमृद्धि में आमर्ष, कपट, निर्दय परिणाम और अभिमान आदि दोषों को आचरण करते हैं, उनको एक-एक योनी की अपेक्षा अनेक बार अधम दशा का अनुभव करना पड़ता है। जो महानुभाव दोषों को सर्वथा छोड़ कर सरलता, निष्कपट, दया, दाक्षिण्यता आदि सद्गुणों का अवलम्बन करते हैं वे यथायोग्य उत्तम, मध्यम अवस्था को पाते हैं। यह बात तो निश्चय पूर्वक कही जा सकती है कि—जो जैसा स्वभाव रखेगा वह उसी के अनुसार योग्यता का पात्र बनेगा और सांसारिक व धार्मिक कार्यों में अग्रगण्य समझा जायगा। महर्षियों ने जन सुधार के निमित्त जो जो आज्ञाएँ दी हैं, और उत्तम-उत्तम उपाय बतलाये हैं उनको श्रद्धापूर्वक पालन करने से सद्गुणों, की प्राप्ती होती है और उभय लोक में अखण्ड यशः प्रताप फैलता है।

छः प्रकार के पुरुष—

ग्रन्थकार महर्षियों ने सर्वोत्तमोत्तम १, उत्तमोत्तम २, उत्तम ३, और मध्यम ४, इन चार भेद वालों की मुक्तकंठ से प्रशंसा करने के लिए उपदेश दिया है। क्योंकि ये चारों भेद वाले पुरुष धर्मात्मा और धर्मानुरागी होते हैं, इससे इनकी प्रशंसा करने से मनुष्य सद्गुणी बनता है। दुनिया में 'सर्वोत्तमोत्तम' पंक्ति में सब दोषों से रहित और अनेक प्रभावशाली अतिशयान्वित, श्रीतीर्थङ्कर भगवान तथा 'उत्तमोत्तम' कोटि में सामान्य केवली भगवन्त दाखिल हैं, 'उत्तम' कोटी में पंचमहाव्रतधारी, अखंड ब्रह्मचर्य व्रत पालक, मुनि महाराज और

देशविरति श्रावक महानुभाव दाखिल हो सकते हैं; और 'मध्यम' कोटि में सम्यग्दृष्टि, और मार्गानुसारी सत्पुरुष, समझे जा सकते हैं। इन महानुभावों को सद्गुणों के प्रभाव से ही उत्तमता प्राप्त हुई है। इसलिये इन्हों की प्रशंसा करना, वास्तव में अपनी ही उन्नति के निमित्त है। अत एव सत्पुरुषों की निरन्तर प्रशंसा करते रहना चाहिये; क्योंकि उत्तमोत्तमगुण प्राप्त करने का यही मुख्य साधन है।

जो 'अधम' तथा 'अधमाधम' जीव हैं। वे गुरुकर्मी होने से प्रशंसा के लायक नहीं हैं; क्योंकि—उनमें जितने दोष हैं, वे प्रायः निन्दा करने योग्य ही हैं।

'श्रीजिनहर्षगणिजी' महाराज बताते हैं कि—'ते वि य न निंदणिज्जा, किन्तु दया तेसु कायव्वा' अर्थात्—अधम और अधमाधम मनुष्य भी निन्दनीय नहीं हैं। क्योंकि—संसार में मनुष्य पूर्वोपार्जित पापकर्म के उदय से पापकर्म करने में ही लगे रहते हैं, और नरकप्रायोग्य अशुभयोगों में विलास किया करते हैं। इसलिए उनकी निन्दा नहीं करना चाहिए, किन्तु उन पर भी दयालु स्वभाव रखना चाहिए।

अधर्मी मनुष्यों को देखकर धर्मात्माओं को यह विचार करना चाहिए कि—ये जीव बिचारे भारीकर्मा होने से धर्मरहित हुए हैं, यदि किसी तरह ये धर्मानुरागी बनें तो अच्छा है। ऐसी शुभ भावना रख, मधुर वचनों से समझाते रहना चाहिए; परन्तु पापिष्ट दुष्ट नीच आदि शब्दों से व्यवहार करना ठीक नहीं। मधुर वचनों से तो किसी न किसी समय ये लोग धर्म के सन्मुख हो सकेंगे, किन्तु निन्दा करने से कभी नहीं समझ सकते। पूर्वाचार्यों ने मधुर वचनों से ही अनेक महानुभावों को धर्मानुरागी बनाये हैं। जो लोग वचनों में मधुरता नहीं रखते, उनके वचन सर्व मान्य नहीं हो सकते। श्री जिनेश्वरों की वाणी दयालुस्वभाव से ही सर्वमान्य मानी जाती है; क्योंकि—जिनवाणी अत्यन्त मधुरवचन संपन्न होती है उसको प्रीति पूर्वक हितकारक समझकर, अधमाधम श्रेणी के मनुष्य भी आचरण (मान्य) करते हैं। अतएव बुद्धिमानों को दयालुस्वभाव रख, मधुरवचनों से अधमजीवों को समझाते रहना चाहिए।

'षट्पुरुषचरित्र' में श्रीक्षेमंकरगणिजी ने पुरुष-धर्म सब में समान रहने पर भी पूर्वभवोपार्जित शुभाऽशुभकर्म के परिणाम से और चारपुरुषार्थों को साधन करने के भेद से मनुष्यों के छः विभाग किये हैं। अधमाधम १, अधम २, विमध्यम ३, मध्यम ४, उत्तम ५ और उत्तमोत्तम ६।

१—जो लोग धर्मकर्म से रहित हैं, जिन्हें परलोक संबंधी दुर्गतियों का भय नहीं हैं, निरन्तर क्रूरकर्म और पापों का आचरण किया करते हैं, अधर्मकार्यों में आनन्द मानते हैं, लोगों को अनेक उद्वेग उपजाया करते हैं, देव, गुरु, और धर्म की निंदा किया करते हैं, दूसरे मनुष्यों को भी नित्य पापोपदेश दिया करते हैं, जिनके हृदय में दयाधर्म का अंकूर नहीं ऊगता अर्थात्-जो महा निर्दय परिणामी होते हैं, अगर किसी तरह कुछ द्रव्य प्राप्त भी हुवा तो उसे मदिरा, मांसभक्षण और परस्त्रीगमन आदि अनेक कुकार्य करने में खर्च करते हैं, वे लोग 'अधमाधम' हैं।

२—जो महानुभाव परलोक से पराङ्मुख हो इन्द्रियों के विषयसुख के अभिलाषी बने रहते हैं, अर्थ और काम, इन दो पुरुषार्थों को ही उपार्जन करने में कटिबद्ध हैं, संसारवृद्धि का जिनको किञ्चिन्मात्र भय नहीं हैं, जन्म मरण संबंधि क्लेशों का जिन्हें ज्ञान नहीं है, जो दूसरों के दुःख को नहीं जानते, जो कर्मों के अशुभ फलों का दुःख देखते हुए भी सुख मानते हैं, जो पशुओं की तरह यथारुचि खाते, पीते, बोलते, और कुकर्म करते हैं, लोकनिन्दा का भी जिनको डर नहीं है, जो धार्मिक जनों की मस्करी (उपहास्य) करते हैं मोक्षमार्ग की निन्दा करते हैं, धर्मशास्त्रों की अवहेलना (अनादर) करते हैं, कुगुरु, कुदेव, कुधर्म की कथाओं के ऊपर श्रद्धा रखते हैं।

जो लोग सदाचारियों की निन्दा हास्य कर, कहते हैं कि—परलोक किसने देखा?, कौन वहाँ से आया?, किसने जीव, अजीव आदि पदार्थ देखे?, किसने पुन्य पाप का फल भुगता?, स्वर्ग नरक मोक्ष कहाँ है?। केशलुंचनादि, सब कार्य क्लेशरूप हैं, व्रतादि ग्रहण करना भोगों से वंचित रहना है, शास्त्रों का अभ्यास केवल कण्ठशोष है, धर्मोपदेश देना बिचारे मूर्ख लोगों को ठगना है, देव गुरु साधर्मिक भक्ति में द्रव्य लगाना व्यर्थ है। दुनिया के अन्दर अर्थ और काम को छोड़ कर दूसरा कोई पुरुषार्थ नहीं है। क्योंकि—सब जगह अर्थवान् ही प्रशंसनीय है, लिखा भी है कि—

मुत्तूण अत्यकामो, नो अन्नो कोई अत्थि परमत्थो।
जस्स कए चइऊणं, दिट्ठसुहमदिट्ठ अहिलासो।।१।।

भावार्थ—अर्थ और काम को छोड़कर संसार में कोई ऐसा परमार्थ नहीं है कि जिसके लिए मिले हुए सुखों को छोड़कर अदृष्ट सुखों की आशा की जाय। क्योंकि जाति, विद्या, रूप, कलासमूह, गुण और विज्ञान; ये सब अर्थ (धन) से ही शोभा को प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार विषयवश हो अधमबुद्धि लोग स्वयं परमार्थमार्ग से पतित होते हैं, और दूसरों को भी दुर्गति के भाजन बनाते हैं। इससे ये लोग 'अधम' हैं।

जैसे-मूर्खमति मृग व्याधगीत को सुखरूप मानता है, पतंग-सहर्ष हो दीपशिखा में पड़ता है। इसी तरह अधम मनुष्य दुःखरूप और अर्थ और काम की वासना में सुख मानते हुए नरकादि स्थानों के पात्र बनते हैं, अर्थात् अधम लोगों के सब व्यापार स्वात्मविनाश के लिए होते हैं। जो महानुभाव सदुपदेश और आगमप्रमाण मिलने पर भी अपने नास्तिकपन को नहीं छोड़ते वे भी अधमपुरुषों की श्रेणी में समावेश किये जाते हैं।

३—जो मनुष्य धर्म, अर्थ और काम की आराधना सांसारिक सुखों के वास्ते करते हैं, मोक्ष की निन्दा और प्रशंसा नहीं करते हैं, जैसे 'नालिकेरद्वीप' निवासी मनुष्य, धान्य के ऊपर रुचि और अरुचि नहीं लाते किन्तु मध्यस्थभाव रखते हैं, उसी प्रकार जो मोक्ष के विषय में अभिलाष और अनभिलाष नहीं रखते, केवल इस लोक में ऋद्धि संपन्न मनुष्यों को देख कर धर्म साधन में प्रवृत्त होते हैं और मन में चाहते हैं कि—हमको रूप, सौभाग्य, विभव, विलास, पुत्र, पौत्रादि परिवार, तथा समस्त पृथ्वीमण्डल का राज्य, दान, शील, तप और भाव आदि धर्मकरणी के प्रभाव से जन्मान्तर (दूसरे जन्म) में मिले। अर्थात् समृद्धि के लिए ही जो तीर्थसेवा, गुरुभक्ति, परोपकार और दुष्कर क्रिया करते हैं और लोक विरुद्ध कार्यों का त्याग कर धर्मक्रिया में प्रवृत्त होते हैं, तथा पाप से डरते हैं, और सुगति तथा कुगति को मानते हैं; वे 'विमध्यम' हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र; ये चार वर्ण पूर्वोक्त कार्यों के करने से विमध्यम पुरुषों में गिने जाते हैं।

४—जो सम्यग्दृष्टि, चक्रवर्ती प्रमुखों के विभव और विषयादिसुखभोग के अभिलाषी हो निदान करते हैं वे भी इसी भेद में गिने जाते हैं। ये लोग धर्मार्थी होने पर भी यथार्थवक्ता गुरु के बिना धर्मस्वरूप को नहीं पा सकते।

धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष, इन चार पुरुषार्थों को मानते हैं, परन्तु मोक्ष को परमार्थ और परमतत्त्व समझते हैं, तथापि हीनसत्त्व और कालानुसार पुत्रकलत्रादि के मोह ममत्व को नहीं छोड़ सकने के कारण धर्म, अर्थ तथा काम; इन तीनों ही वर्ग की आराधना यथासमय परस्पर बाधारहित करते रहते हैं। संसारस्वरूप और विषयादि भोगों को किंपाकफल की तरह दुःखप्रद समझते हुए भी 'महापुरुषसेवितां प्रव्रज्यामध्यवसितुं न शक्नुवन्ति' महोत्तम पुरुषों के द्वारा सेवित पारमेश्वरी दीक्षा को स्वीकार करने के लिए समर्थ नहीं हो सकते। परन्तु जैनशासन के प्रभावक, मुनिजनों के भक्त, साधुधर्म के पोषकहो दान, शील, तप भाव और परोपकारादि सद्गुणों से अलंकृत सम्यक्त्वमूल-बारह व्रतों को निरतिचार पालन करते हैं; वे पुरुष 'मध्यम' हैं। ये लोग जिनेन्द्रधर्म को निराशीभाव से सेवन करते हैं और सबका हित चाहते हैं, किन्तु किसी की भी हानि नहीं चाहते। इससे इस लोक में अनेक लोगों के प्रशंसनीय हो परलोक में उत्तम देव और मनुष्य पद प्राप्त करते हैं।

५—जो चारपुरुषार्थों में से केवल मोक्ष ही को परमार्थ स्वरुप समझते हैं और मोक्षमार्ग की आराधना करने में ही कटिबद्ध रहते हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह, मत्सर, रति, अरति, भय, शोक, दुगंछा आदि दुर्गुणों को छोड़कर पारमार्थिक सद्गुणों में चित्त लगाकर धन, धान्य, माल, खजाना, कुटुम्ब—परिवार को तुच्छ समझकर, भोगतृष्णामय दुष्ट इन्द्रियों को सर्वथा रोक कर वैराग्य वासना से वासितान्तःकरण होकर परमपुरुष सेवित और सब दुःखों की निर्जरा का हेतु पारमेश्वरी महोत्तम निर्दोष दीक्षा का सेवन करते हैं, अर्थात् चारित्रधर्म को स्वीकार करते हैं। शत्रु, मित्र, निन्दक, पूजक, मणि, कांचन, सज्जन, दुर्जन, मान, अपमान, गम्य, अगम्य आदि सब के उपर समानभाव रखते हैं, और सब जीवों को हितकारक उपदेश देते हैं। गृहस्थों के परिचय से विरक्त, आरंभ से रहित, सत्योपदेशक, अस्तेयी, ब्रह्मचारी और निष्परिग्रही होते हैं, वे 'उत्तमपुरुष' कहे जाते हैं, इस भेद में निर्दोष चारित्र को पालने वाले मुनिराज गिने जाते हैं।

६—जो लोग गृहस्थाश्रम छोड़ने पर भी सांसारिक विषयों के अभिलाषी, सब वस्तुओं के भक्षक, धनधान्यादि परिग्रह से युक्त, अब्रह्मचारी, मिथ्या उपदेशक, गृहस्थपरिचर्या (सेवा) कारक,

रंगीनवस्त्रधारण कर और बुगला भगत बन लोगों को ठगने वाले, अधोकर्मी आहारादि लेने वाले और वैरविरोध, कलह, मात्सर्य आदि दुर्गुणों में क्रीड़ा करने वाले हैं, वे उत्तमों की पंक्ति में क्या मध्यमों की पंक्ति में भी नहीं हैं, किन्तु उनको अधमों की पंक्ति में गिनना चाहिए। क्योंकि उत्तम पुरुषों की गिनती में तो वे ही सत्पुरुष आ सकते हैं, जो कि पूर्वोक्त अधम कार्यों से रहित हों।

अर्थात् जो अमोही, ज्ञानी, ध्यानी, शान्त, जितेन्द्रिय, त्यागी, विरागी, निस्पृही, शास्त्रोक्त साधुक्रिया में तत्पर, विद्यावान्, विवेकसंपन्न, मध्यस्थ, तत्त्वदृष्टी, भवोद्विग्न, अमत्सरी, सर्व जीवहितचिन्तक, सद्गुणानुरागी, कलहोदीरणारहित, और संयम की उत्तरोत्तर खप करने वाले, मुनि हों वे उत्तमपदालंकृत हैं। ये उत्तम पुरुष स्वयं संसारसमुद्र से तरते हैं, और भव्यजीवों को निःस्वार्थवृत्ति से तारते हैं। जो स्वयं तरने के लिए समर्थ नहीं है, वह दूसरों को कैसे तार सकता है?। अतएव उत्तमपुरुष ही स्वयं तिरने के लिए और दूसरों को तारने के लिए समर्थ हैं। जो उत्तमपुरुषों के और तीनलोक के ध्येय, पूज्य, माननीय, वन्दनीय, स्तवनीय, ईश्वरपदवाच्य, सर्वथा राग द्वेष रहित, केवलज्ञान से लोकालोक के स्वभाव के प्रकाशक, प्रमाणयुक्त, स्याद्वादशैलीयुक्त—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—इन तीनों पदों का ज्ञान गणधरों को देने वाले, निर्विकार, निर्बाध, परस्पर विरोधादिदोषरहित, शासननायक, शिवसुखदायक, परमकृपालु, कल्पवृक्ष चिन्तामणिरत्न कामधेनु और कामकुम्भ से भी अधिक दान देने वाले, धर्मचक्रवर्ति तीर्थंकर तीर्थस्थापक सेवामात्र से मोक्ष के फल देने वाले होते हैं, वे 'उत्तमोत्तम' पद विभूषित हैं।

जिनका संसार में जन्म होने से लोगों के हृदय में सद्बुद्धि पैदा होती है, सब का दयालुस्वभाव होता है, वैर विरोध इर्ष्या लूट-खोस आदि दुर्गुण मिटते हैं, अनुकूल वर्षा होती है, दुर्भिक्ष का नाश और जल फूल फलादि में मधुरता बढ़ती है, त्रिलोकव्यापी उद्योत होता है, लोगों में धार्मिक भावना बढ़ती है, स्वपरिवार सहित इन्द्रों का गमनागमन होता है बहुत कहाँ तक कहा जाय जिनके समान रूप, सौभाग्य, लावण्य, भाग्योदय, गाम्भीर्य, धैर्य, दाक्षिण्य, सदाचार, गुणानुराग, गुणसमूह, निर्ममता, समताभाव, निर्दोषीपन, सहनशीलता, स्वामित्व, जितेन्द्रियत्व, अतिशय, निर्भयता आदि

उत्तमोत्तम सद्गुण दूसरे संसारी किसी जीव में नहीं हों, वे सर्वज्ञ दयासागर जगज्जीव हितैषी उत्तमोत्तम पुरुष कहे जाते हैं।

महानुभाव! इस प्रकार ग्रन्थान्तरों में पुरुषों के छः विभाग किये गये हैं। शास्त्रों में योग्यायोग्य पुरुषों का बहुत स्वरूप दिखलाया गया है, यहां तो बिलकुल संक्षेपस्वरूप लिखा है। इस स्वरूप को अवलोकन और मननकर यह विचार करना चाहिए कि पूर्वोक्त भेदों में से मैं किस पंक्ति में हूं?, मेरे में इनमें से कौन २ लक्षण पाये जाते हैं?, ऐसा विचार करने पर यदि मालूम हो कि अब तक तो मैं नीच—पंक्ति में ही हूँ तो ऊंची पंक्ति में जाने का प्रयत्न करना चाहिए, और यदि यह मालूम हो कि मैं ऊँचे नम्बर की पंक्ति में हूँ तो उत्तरोत्तर ऊँची पंक्ति में पहुँचने की अभिलाषा रखनी चाहिए और अपने से नीची पंक्ति में रहे हुए जो लोग हैं, उन पर दयालु स्वभाव रख उन्हें सद्मार्ग में जोड़ने का प्रयत्न करना चाहिए।

जो लोग बालविवाह, वृद्धविवाह, कन्याविक्रय करते हैं, एक स्त्री पर अनभिलाषा रख, दूसरी स्त्री से विवाह कर सपत्नी संबंध जोड़ते हैं और अवाच्यपशुओं की तरह बेदरकारी रखते हैं, वे भी 'अधमाधम पुरुषों' में सामिल हैं अतएव अधमाधम कार्यों को सर्वथा छोड़ देना चाहिये, क्योंकि अधम कार्यों से मनुष्य ऊंची दशापर नहीं चढ़ सकता।

आजकल प्रायः छोटे २ जन्तुओं की दया पालन की जाती है परन्तु पञ्चेन्द्रिय जीव को आजन्म दुःख में डालते हुए कुछ भी विचार नहीं किया जाता।

• • •

अब श्रीमान् जिनहर्ष गणि विषयविकारों की न्यूनाधिक्य से पुरुषों के छः भेद दिखलाते हुए सर्वोत्तमोत्तम पुरुषों का वर्णन करते हैं—

*पंच्चगुब्भडजुव्वण—
वंतीणं सुरहिसारदेहाणं।
जुवईणं मज्झगओ,
सव्वुत्तमरूववंतीणं।।१५।।

---

* प्रत्यङ्गोद्भटयौनव-वतीनां सुरभिसारदेहानाम्।
युवतीनां मध्यगतः, सर्वोत्तमरूपवतीनाम्।१५।

****आजम्मबंभयारी,**
मणवयकाएहिं जो धरइ सीलं।
सव्वुत्तमुत्तमो पुण,
सो पुरिसो सव्वनमणिज्जो।१६।

शब्दार्थ—(पच्चंगुब्भडजुव्वणवंतीणं) प्रति अंगों में प्रकट है यौवन जिनका, (सुरहिसार-देहाणं) सुगन्धमय है शरीर जिनका, और सव्वुत्तमरूववंतीणं) सब से उत्तमरूपवाली (जुवईणं) युवतियों के (मज्झगओ) मध्य में रहा हुआ (जो) जो (मणवयकाएहिं) मन वचन और काया से (अजम्मबंभयारी) जन्मपर्यन्त ब्रह्मचारी रह (सीलं) शील को (धरइ) धारण करता है (सो) वह (पुरिसो) पुरुष (सव्वुत्तमुत्तमो) सर्वोत्तमोत्तम कहा जाता है (पुण) फिर वह (सव्वनमणिज्जो) सब लोगों के वन्दन करने योग्य होता है।

भावार्थ—युवावस्था, सुगन्धमय शरीर सौन्दर्यसंपन्न स्त्रियों के बीच में रहकर भी जो अखण्ड ब्रह्मचर्य धारण करता है वह पुरुष 'सर्वोत्तमोत्तम' और सबका वन्दनीय होता है।

विवेचन—संसार में दान देना, परीषह सहना, तपस्या से शरीर को सुखादेना, दया पालन करना, ध्यान आदि क्रियाओं का करना तो सुकरहै परन्तु आजन्म ब्रह्मचर्य धारण करना अत्यन्त दुष्कर है। बड़े-बड़े योद्धा पुरुष भी कामदेव के आगे कायर बन जाते हैं तो इतर मनुष्यों की कथा ही क्या है?, क्योंकि कामदेव बड़ा भारी योद्धा है। यह तपस्वियों के हृदय में भी खलबलाहट किये बिना नहीं रहता, अर्थात् जिसके हृदय में इसने प्रवेश किया उसका फिर संयमित रहना कठिन है। इससे भगवन्तों ने उन्हीं को त्यागी कहा कि—

जे य कंते पिए भोए, लद्धेऽवि पिट्ठि कुव्वइ।
साहीणे चइए भोए, से हु चाइ त्ति वुच्चइ।।

भावार्थ—जो पुरुष मनोहर, मनोऽनुकूल और स्वाधीनता प्राप्त भोगों को शुभभावना से छोड़ देता है। अर्थात् जिनको जन्मभर में

---

* आजन्मब्रह्मचारी, मनोवचः कायैर्यो धरति शीलम्।
सर्वोत्तमोत्तमः पुनः, स पुरुषः सर्वनमनीयः।१६।

एक भी स्त्री नहीं मिलती, कदाचित् मिली तो मनोऽनुकूल नहीं; वे पुरुष दुःखी हो बंधे हुए घोड़े की तरह ब्रह्मचर्य पालें तो वास्तव में ब्रह्मचारी नहीं कहे जा सकते। किन्तु जिनको भोगों की सब सामग्री तैयार है और अपनी इच्छा के अनुसार चलनेवाली स्त्रियाँ हैं उस अवस्था में किसी प्रकार विषयकीचड़ से उपलिप्त न होना वही वास्तविक त्यागी—(ब्रह्मचारी) है। क्यों विरक्त मनुष्य संसार के भोगों को काले सर्प के फण के समान विषम जानकर इन्द्रियों के विषयों को विषमिश्रित अन्न के समान और स्त्रियों के पुद्गलजन्य सुखों को तृण के समान असार जानकर विषयाशक्ति को छोड़ मोक्ष को प्राप्त होता है।

अतएव किंपाकफल के समान आदि ही में सुखद और अन्त में दुःखद जानकर मैथुन से विरक्त हो अखंड ब्रह्मचर्य धारण करना चाहिए, क्योंकि जलते हुए लोहस्तंभ का आलिंगन करना श्रेष्ठ है किन्तु अनेक अनर्थों का कारण भूत स्त्री जघन का सेवन उत्तम नहीं है। जो लोग स्त्रियों के संभोग से कामज्वर को शान्त करना चाहते हैं वे घृत की आहुति से अग्नि को बुझाने की इच्छा करते हैं।

चारित्र का प्राण और मोक्ष का मुख्य हेतु भूत ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाले सत्पुरुष पूज्यों से भी संमानित होते हैं। अनेक क्लेशों और चुगलियों का घर 'नारद' केवल ब्रह्मचर्य से ही मोक्ष अधिकारी बनता है, ब्रह्मचर्य से ही समस्त गुण उज्ज्वल हो सब के आदरणीय होता है। अन्य दर्शनों का भी कहना है कि एक दिन ब्रह्मचर्य पालने से जो फल प्राप्त होता है वह हजार यज्ञों से भी नहीं होता है। जिनमें ब्रह्मचर्य है और जो हमेशा सत्यवाणी बोला करते हैं उनको गंगा भी ढूँढा करती हैं। कितने एक लोग गंगास्नान करने के लिए जाते हैं लेकिन गंगा उनसे अपने को पवित्र नहीं मानती, किन्तु पवित्र होने के लिए ब्रह्मचारी और सत्यवादियों का नित्य अन्वेषण किया करती है।

अधुवं जीवियं नच्चा, सिद्धिमग्गं वियाणिया।
विणियट्टिज्ज भोगेसु, आउम्मि परिमियप्पणो।।१।।

भावार्थ—जीवित को अनिश्चित, ज्ञान, दर्शन, चारित्र को मोक्षमार्ग और आयु को परिमित जानकर विषयादि भोगों से विरक्त होना चाहिये, अर्थात् जीवित स्थिर नहीं है। रत्नत्रय ही मोक्षमार्ग है और आयु प्रमाणयुक्त है, ऐसा समझकर बुद्धिमानों को अखंड ब्रह्मचर्य धारण करना चाहिए।

मनुष्यों के हृदय को सद्गुणों की ओर आकर्षित करने के लिए शास्त्रकारों ने अनित्यभावना १, अशरणभावना २, भवस्वरूपभावना ३, एकत्वभावना ४, अन्यत्वभावना ५, अशौचभावना ६ आश्रवभावना ७, संवरभावना ८, निर्जराभावना ६, धर्मभावना १०, लोकस्वरूपभावना ११, और बोधिदुर्लभभावना १२, ये बारह भावना बतलाई हैं।

अतएव विवेकरूपी सुवन को सिंचन करने के लिए, नदी के समान प्रशम सुख को जीवित रखने के लिए, संजीवनी औषधि के समान संसाररूपी समुद्र को तरने के लिए, वृहन्नौका के समान कामदेवरूपी दवानल को शान्त करने के लिए, मेघसमूह के समान चञ्चल इन्द्रियरूपी हरिणों को बाँधने के लिए, जाल के समान प्रबलकषायरूपी पर्वत को तोड़ने के लिए वज्र के समान, और मोक्षमार्ग में ले जाने के लिए नहीं थकने वाली खच्चरी के समान जो भावनाएँ हैं, उनकी चिन्ता नित्य करनी चाहिए। क्योंकि अनित्यादि भावनाओं से वासितान्तःकरण वाले मनुष्य के हृदय में विषयविकारादि दुर्गुण अवकाश नहीं पा सकते। बौद्धशास्त्रकारों ने भी लिखा है कि 'अणिच्चा, दुक्खा, अणत्था' अर्थात् संसार अनित्य, अनेक दुःखों से पूरित और नाना अनर्थों का कारण है ऐसा विचार करने वाला पुरुष कभी विकारी और दुर्गुणी नहीं होता।

जिसके हृदय में आत्मचिन्तन (शुभभावना) नहीं है वह विषयाधीन हुए बिना नहीं रहता, इतना ही नहीं किन्तु वह विषयों के वशवर्त्ती हो वीर्यशक्ति को नष्ट कर उभयलोक से भ्रष्ट हो जाता है, अतः उत्तमोत्तम पद की प्राप्ति के लिए अनित्यादि भावनाओं का चिन्तन कर निरन्तर ब्रह्मचर्य की सुरक्षा करते रहना चाहिए। भरतचक्रवर्ती को आरीसाभवन में, कूर्मापुत्र को गृहस्थावास में रहते हुए, गजसुकुमार को कायोत्सर्ग प्रतिमा में स्थित रहते हुए, कपिल को पुष्पवाटिका में, प्रसन्नचन्द्रराजर्षि को काउस्सग्ग में रहते हुए, और मरुदेवी माता को हस्ती पर बैठे हुए इन्हीं अनित्यादि शुभ भावनाओं के चिन्तन करने से कैवल्यज्ञान उत्पन्न हुआ था। इन भावनाओं के चिन्तन से अनेक भव्य पूर्वकाल में मोक्ष के अधिकारी हुए, और वर्त्तमानकाल में होते हैं, तथा आगामीकाल में होवेंगे। इसलिए सौन्दर्यसंपन्न सुरम्य तरुण-स्त्रियों के मध्य में रहकर भी विकारी न बनना चाहिए।

भगवान् नेमिनाथस्वामी, श्रीजम्बूस्वामी, श्रीकूर्मापुत्र, आदि अनेक महात्मा दुर्जय कामदेव को पराजय कर सर्वोत्तमोत्तम पद को अलंकृत करने वाले हुए हैं, और जिन्होंने ब्रह्मचर्यरूपी कर्पूरसुगन्धि से सारे संसार को सुवासित कर दिया और अनेक भव्यों को भवाम्बुधि से पारकर शाश्वत सुख का भागी बनाया। इत्यादि अनेक दृष्टान्त शास्त्रों में उपलब्ध होते हैं, परन्तु यहाँ पर केवल एक विजयकुँवर और विजयाकुँवरी का आश्चर्यजनक दृष्टान्त लिखा जाता है।

विजय और विजयासर्वदेशशिरोमणि 'कच्छ' देश में 'कौशाम्बी' नामक प्रख्यात और सत्ताईस*वकारों से सुशोभित नगरी में धर्मपरायण 'अर्हद्दास' नामक सेठ रहता था, उसके सतीकुलशिरोमणि 'अर्हद्दासी' नामक स्त्री थी, उन दोनों के बीच में अनेक मनोरथों से त्रिभुवन में आश्चर्योत्पादक और विनयादिसद्गुणगणालङ्कृत 'विजय' नामक पुत्ररत्न हुआ। वह अभ्यास के योग्य होने पर धर्माचार्य के पास पढ़ने लगा। एक समय धर्माचार्य ने कहा कि—

---

*वापीवप्रविहारवर्णवनिता वाग्मी वनं वाटिका,
विद्वद्ब्राह्मणवादिवारिबिबुधा वेश्या वणिग्वाहिनी।
विद्यावीरविवेकवित्तविनया वाचंयमो वल्लिका,
यस्मिन् वारणवाजिवस्त्रविषया राज्यं तु तच्छोभते।।१।।

भावार्थ—राज्य निम्न लिखित सत्ताईस वकारादि शब्दवाच्य पदार्थों से साङ्गोपाङ्गभूषित होकर शोभित होता है—अर्थात् वापी (बावड़ी) १, वप्र (प्राकार) २, विहार (चैत्य) ३, वर्ण (शुक्लनीलादि दृश्य) ४, वनिता (सामान्यस्त्री) ५, वाग्मी (वावदूक-वाचाल) ६, वन (अरण्य) ७, वाटिका (उद्यान-फुलवाई) ८, विद्वान् (पण्डित) ६, ब्राह्मण (ब्रह्मनिष्ठ) १०,वादी (वाद करने में कुशल) ११, वारि (जल) १२, बिबुध (देवता) १३, वेश्या (वाराङ्गना) १४, वणिग् (बानिया) १५, वाहिनी (सेना, अथवा नदी) १६, विद्या (कला कौशल) १७, वीर (शूर) १८, विवेक (सत्यासत्य का विचार) १६, वित्त (धन) २०, विनय (नम्रता) २१, वाचंयम (साधु) २२, वल्लिका (लताएँ) २३, वारण (हस्ती) २४, बाजी (घोड़ा) २५, वस्त्र (पट) २६, और विषय (इन्द्रियभोग) २७।

हे आयुष्मन्! इस दुःखात्मक संसार में ब्रह्मचर्य के सिवाय दूसरा कोई अमूल्य रत्न नहीं है, क्योंकि ब्रह्मचर्य से अग्नी-जल, सर्प-पुष्पमाला, सिंह-मृग, विष-अमृत, विघ्न-महोत्सव, शत्रु-मित्र, समुद्र-तालाब और अरण्य-घररूप बन जाते हैं। शीलसंपन्न पुरुष सकलकर्मों का क्षयकर इन्द्र नरेन्द्रों का भी पूज्य बन जाता है। कहा है कि—

अमराः किङ्करायन्ते, सिद्धयः सहसङ्गताः।
समीपस्थायिनी संप—च्छीलालङ्कारशालिनाम्।।१।।

भावार्थ—ब्रह्मचर्यरूप अलङ्कारों से सुशोभित पुरुषों के देवता किङ्कर (नौकर) बन जाते हैं, सिद्धियाँ साथ में रहती हैं, और संपत्तियाँ भी समीप में बनी रहती हैं।

जिन पुरुषों ने ब्रह्मचर्य का तिरस्कार किया उन्होंने जगत में अपयश का डंका बजा दिया, गोत्र में स्याही का कलङ्क लगा दिया, चारित्र को जलाञ्जलि दे दी, अनेक गुणों के बगीचे में अग्नि लगा दी, समस्त विपत्तियों को आने के लिए संकेत स्थान बता दिया और मोक्षरूपी नगर के दरवाजे में मानों मजबूत किवाड़ लगा दिये।

इस प्रकार धर्माचार्य का सदुपदेश सुनकर विजयकुँवर ने स्वदारासन्तोषव्रत लिया, और शुक्लपक्ष में तीनकरण न तीनयोग से सर्वथा ब्रह्मचर्य पालन करने का दुर्द्धर नियम धारण किया।

उसी कौशाम्बी नगरी में 'धनवाह' सेठ की 'धनश्री' नाम की स्त्री की कुक्षि से 'विजया' नामक पुत्री उत्पन्न हुई और वह अभ्यास के लायक अवस्था वाली होने पर आर्यिकाओं के पास विद्याभ्यास करने लगी। किसी समय प्रसंग प्राप्त आर्यिकाओं ने उपदेश देना शुरु किया कि—

हे बालिकाओं! संसार में स्त्रियों के लिये परम शोभा का कारण एक शीलव्रत ही है, जितनी शोभा बहुमूल्य रत्नजटिल अलङ्कारों से नहीं होती उतनी शोभा स्त्रियों के शीलपरिपालन से होती है। जो कुलवती स्त्रियाँ अखण्ड शीलव्रत को धारण करती हैं, उनकी व्याघ्र सर्प जल अग्नि आदिक से होने वाली विपत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं, उनके आनन्द मंगल सदा बने रहते हैं, देवता उनके समीप

ही रहते हैं, उनकी कीर्ति संसार में छाई रहती है, और स्वर्ग तथा मोक्ष के सुख अतिसमीप आ जाते हैं। शास्त्रकार महर्षियों का कथन है कि—

सीलं सत्तरोगहरं, सीलं आरुग्गकारणं परमं।
सीलं दोहग्गहरं, सीलं सिवसुक्खदायारं।।१।।

भावार्थ—शील प्राणियों का रोग हरण करने वाला, शील आरोग्यता का उत्कृष्ट कारण, शील दौर्भाग्य का नाशक, और शील मोक्षसुख का देनेवाला होता है।

अतएव स्त्रियों को शील की रक्षा करने का अवश्य प्रयत्न करना चाहिए। जो स्त्रियाँ शील की सुरक्षा न कर कुशील सेवन किया करती हैं, वे उभयलोक में अनेक दुःख देखा करती हैं। जिस स्त्री का चाल चलन अच्छा होता है उसकी सब कोई प्रशंसा करते हैं। दुश्चरित्रा स्त्रियों का न कोई विश्वास करता है और न कोई उनसे प्रीति ही रखते हैं।

आर्यिकाओं के इन सुबोध वचनों को सुनकर विजया ने 'स्वपतिसन्तोषव्रत' लिया और वह भी कृष्णपक्ष में सर्वथा ब्रह्मचर्य धारण करने का नियम स्वीकार किया। पाठक गण! यद्यपि अभी ये दोनों कौमार्यावस्था में ही हैं तो भी दोनों ने कितना दुर्द्धर व्रत ग्रहण किया है? यही इनके सर्वोत्तमोत्तमता के लक्षण हैं। भवितव्यतावशात् रूप लावण्य और अवस्था समान होने से दोनों का विवाह-संयोग जोड़ा गया। माता पिताओं को दोनों (बालक तथा बालिका) की प्रतिज्ञा की मालूम नहीं थी, इससे इनका परस्पर विवाह हो गया। रात्रि के समय विजया सोलह शृंगार सजकर और दिव्य वस्त्र धारण कर पति के शयनागार में प्राप्त हुई, तब विजयकुँवर ने अत्यन्त मधुर वचनों से कहा कि—

हे सुभगे! तूं मेरा हृदय, जीव, उच्छ्वास और प्राण है, क्योंकि संसार में प्राणियों के प्रिया ही सर्वस्व है। तुम्हारे सदृश प्रियतमा को पाकर मैं स्वर्गलोक के सुखों को भी तृणसमान समझता हूँ। परन्तु शुक्लपक्ष में मैंने त्रिकरणशुद्धिपूर्वक सर्वतः ब्रह्मचर्य धारण किया है, अब केवल उस पक्ष के तीन दिन बाकी हैं, इसलिए उनके बीत जाने

पर आनन्द का समय प्राप्त होगा। इस बात को सुनकर विजया दुःखी हुई।

तब विजयकुँवर ने दुःखी होने का कारण पूछा, जब हाथ जोड़कर विनयावनत हो विजया ने कहा कि—स्वामिन्! मेरे भी कृष्णपक्ष में सर्वतः शील पालने का अभिग्रह लिया हुआ है, इससे आप दूसरी रमणी के साथ विवाह करिये, क्योंकि पुरुषों के अनेक स्त्रियाँ हो सकती हैं।

यह सुन विजयकुँवर बोला कि—हे सुशीले! मैं तो प्रथम ही दीक्षा लेने वाला था, परन्तु माता पिता ने हठ से विवाह कर दिया। इसलिए मुझे दूसरी स्त्री के साथ विवाह करने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि विषयसेवन से कुछ आयु वृद्धि नहीं होती, किन्तु बहुतकाल पर्यन्त सेवन किये हुए भी विषय पर्यवसान (अन्त) में दुःखदायक होते हैं।

जिस विषय सेवन से कंप, घाम, परिश्रम, मूर्च्छा, भ्रम, ग्लानि, बल का क्षय और क्षयरोग आदि अनेक विपत्तियाँ जाग उठती हैं वह धर्मात्माओं को आनन्ददायक कैसे हो सकता है?। अतएव संसार में स्रक् चन्दन और अंगना आदि पुद्गलजनित विनाशी विषयसुख हैं, वे परमार्थतः दुःखरूप ही हैं, इससे त्रिकरणशुद्धि पूर्वक आजन्म पर्यन्त ब्रह्मचर्य पालन करूंगा। अपन दोनों का यथार्थ समागम पूर्व जन्म के योग से ही प्राप्त हुआ है, लेकिन यह वृत्तान्त किसी को मालूम हो जाय तो अवश्य दीक्षा ले लेनी चाहिये।

अपने प्रियतम के इस प्रकार महोत्तम वचनों को सुनकर विजया अत्यानन्दित हुई, और पति आज्ञा को शिरोधार्य किया। इस प्रकार ये दोनों (दम्पती) स्वजीवित की तरह ब्रह्मचर्य को परिपालन करने लगे।

अहा! हा!! नवीन यौवन की फैलती हुई अवस्था में भी विवाह करके जिन्होंने सर्वथा ब्रह्मचर्य पालन किया, यह आश्चर्य किसके हृदय को आनन्दित नहीं कर सकता?। स्त्री के साथ एक ही सुकोमल शय्या के ऊपर शयन करना और फिर मदन के वशवर्त्ती न होना यह कितनी अमेय शक्ति?। शृंगाररूपी वृक्षों के लिए मेघ

समान, रसिक क्रीड़ा का प्रवाहमय, कामदेव का प्रियबन्धु, चतुर वचनरूपी मोतिओं का समुद्र, सौभाग्यलक्ष्मी का निधिभूत, और स्त्रियों के नेत्ररूपी चकोरों को आनन्दित करने में पूर्णचन्द्र ऐसे नवीन यौवन को प्राप्त हुए सत्पुरुष मनोविकार की मलिनता से कलंकित नहीं बनते, अतएव उनकी जितनी प्रशंसा की जाय उतनी ही थोड़ी है।

वे दम्पती निर्विकारी और भावचारित्र की पात्रता को धारण कर उत्तमोत्तम शीलविषयक विचार करते हुए अपना समय व्यतीत करने लगे।

इसी अवसर में 'चंपा' नगरी में 'विमलकेवली' पधारे, उनके सदुपदेशों को सुनकर 'जिनदास' सेठ ने पूछा कि स्वामिन्! चौरासी हजार तथारूप साधुओं को पारणा कराने का मैंने अभिग्रह लिया है, वह कब पूर्ण होगा? विमलकेवली भगवान् ने कहा कि चौरासी हजार साधुओं का एकदम समागम मिलना दुर्लभ है, कदाचित् दैवयोग से मिल भी जाय तो इतने साधुओं के लिए एक ही घर में निर्दोष आहार का मिलना आकाशपुष्पवत् है। इसलिए कच्छदेशस्थ कौशाम्बी नगरी में स्थित शीलालङ्कार सुशोभित विजयकुँवर और विजयाकुँवरी की अशनादिक से भक्ति करो, उससे उतना ही पुण्य होगा जितना तुम चाहते हो। कहा भी है कि—

चउरासीइसहस्साणं, समणाणं पारणेणं जं पुणं।
तं किण्हसुक्कपक्खे—सु सीलपियकंतभत्तेण।।१।।

भावार्थ—चउरासी हजार साधुओं को पारणा के दिन बहिराने से जो पुण्य होता है उतना कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष में शीलप्रिय—विजयकुँवर और विजयाकुँवरी के भक्त को होता है।

इस बात को सुन 'जिनदास' कौशाम्बी नगरी में जाकर नागरिक लोगों के और उनके माता पिताओं के आगे उन दोनों का दुर्द्धर आश्चर्योत्पादक चरित्र प्रकट करता हुआ और शुद्ध अन्न पान वस्त्र आदिक से भक्ति कर अपने स्थान को पीछा लौट आया। तदनन्तर अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण हुई मानकर विजयकुँवर और विजया कुँवरी पारमेश्वरी दीक्षा महोत्सवपूर्वक लेते हुए और निरतीचार चारित्र पालनकर मोक्षधाम को प्राप्त हुए।

• • •

उत्तमोत्तमपुरुषों का स्वरूप—

***एवंविहजुवइगओ,
जो रागी हुज्ज कहवि इगसमयं
वीयसमयम्मि निंदइ,
तं पावं सव्वभावेणं। १७।**

भावार्थ—(एवंविह) इस प्रकार की सर्वोत्तमरूपवाली (जुवइगओ) स्त्रियों में प्राप्त (जो) जो पुरुष (कहवि) किसी प्रकार (इगसमयं) एक समयमात्र (रागी) विकारी (हुज्ज) हो (वीयसमयम्मि) दूसरे समय में (तं) उस (पावं) पाप को (सव्वभावेणं) सर्वभाव से (निंदइ) निन्दता है।

• • •

***जम्मम्मि तम्मि न पुणो,
हविज्ज रागी मणम्मि कया।
सो होइ उत्तमुत्तम-
रूवो पुरिसो महासत्तो। १८।**

भावार्थ—(पुणो) फिर (तम्मि) उस (जम्मम्मि) जन्म में (कया) कभी (मणम्मि) मन में (रागी) विकारी (न) नहीं (हविज्ज) हो (सो) वह (महासत्तो) महासत्त्ववान् (पुरिसो) पुरुष (उत्तमुत्तमरूवो) उत्तमोत्तमरूप (होइ) होता है, अर्थात् कहा जाता है।

भावार्थ—सर्वोत्तमरूपवाली स्त्रियों में प्राप्त पुरुष कदाचित् समयमात्र विकारी हो, दूसरे समय में सम्हलकर यदि पूर्णभाव से उस पाप की निन्दा अर्थात् पश्चाताप करता है और फिर जन्मपर्यन्त जिसका मन विकाराधीन नहीं होता, वह मनुष्य उत्तमोत्तम और महाबलवान् कहा जाता है।

---

* एवंविधयुवतिगतो, यो रागी भवेत्कथमप्येकसमये।
द्वितीय समये निन्दति, तत्पापं सर्वभावेन। १७।

**जन्मनि तस्मिन्न पुन-र्भवेद्रागी मनसि कदाचित्।
स भवत्युत्तमोत्तम-रूपः पुरुषो महासत्त्वः। १८।

विवेचन—स्त्रियों का स्मरण न करना, स्त्रियों के शृंगारादि का गुण वर्णन न करना, स्त्रियों के साथ हास्य कुतूहल न करना, स्त्रियों के अङ्ग प्रत्यङ्ग का अवलोकन न करना, स्त्रियों से एकान्त में बात न करना, स्त्री—संबंधी कल्पना मन में न लाना, स्त्रियों से मिलने का संकेत न करना, और स्त्रियों से शारीरिक संग न करना, यही ब्रह्मचारी पुरुषों का मुख्य कर्त्तव्य है। जो लोग इससे विपरीत बर्ताव करते हैं, उनका ब्रह्मचर्य खंडित हुए बिना नहीं रहता।

इसी से महर्षियों ने कहा है—कि जिस प्रकार मूसे को बिल्ली का, मृग को सिंह का, सर्प को मयूर का, चोर को राजा का, मनुष्यादि प्राणियों को कृतान्त (यम) का और कामी को लोकापवाद का भय रहता है उसी प्रकार ब्रह्मचारी पुरुषों को स्त्रियों से नित्य भय रखना चाहिए, क्योंकि स्त्रियाँ स्मरणमात्र से मनुष्यों के प्राण हर लेती हैं, अतएव मनुष्यों को चाहिए कि अपनी योग्यता उच्चतम बनाने के लिए मन को विषयविकारों से हटाने का अभ्यास करें, क्योंकि 'अप्पवियारा बहुसुहा' जो अल्पविकारी होते हैं वे जीव बहुत सुखी हैं, ऐसा शास्त्रकारों का कथन है।

कदाचित् संयोगवश मानसिक विकार कभी सतावे तो उनको शीघ्र रोकने की तजवीज करना चाहिए।

अर्थात् स्त्रियों के रूप वगैरह देखने से जो मानसिक विकार उत्पन्न होवे तो यह विचार करना चाहिए कि स्त्रियाँ मेरा कल्याण नहीं कर सकतीं, किन्तु मुझे इनके संयोग और वियोग से जिस समय अनेक दुःख होंगे, उस समय स्त्रियाँ कुछ सहायक नहीं हो सकेंगी। स्त्रियों में फसने से पहिले संकट भोगने पड़ते हैं, फिर कामभोग मिलते हैं, अथवा प्रथम कामभोग मिले तो पीछे संकट भोगना पड़ते हैं, क्योंकि स्त्रियाँ कलह को उत्पन्न करने वाली होती हैं। विषयों में आसक्त रहने से नरकादि गतियों का अनुभव करना पड़ता है, अतएव विषयों में चित्त को जोड़ना ठीक नहीं है।

जो पुरुष युवतिगत मनोविकार को शीघ्र खींचकर फिर सम्हल जाते हैं और फिर आजन्म विषयादि विकारों के आधीन न हो अखंड ब्रह्मचर्य पालन करते हैं वे पुरुष 'रथनेमि' की तरह उत्तमोत्तम कोटी में प्रविष्ट हो सकते हैं, क्योंकि पड़कर सम्हलना बहुत मुश्किल है, यहाँ पर इसी विषय को दृढ़ करने के लिए रथनेमि का दृष्टान्त लिखा जाता है—

जिस समय भगवान् 'अरिष्टनेमि' ने राज्यादि समस्त परिभोगों का त्याग कर संयम स्वीकार किया, तब उन का बड़ा भाई रथनेमि काम से पीड़ित हो सतीशिरोमणि बालब्रह्मचारिणी रूपसौभाग्यान्विता 'राजीमती' की परिचर्या करने लगा, रथनेमि का अभिप्राय यह था कि यदि मैं राजीमती को सन्तुष्ट रक्खूँगा तो वह मेरे साथ भोगविलास करेगी, परन्तु राजीमती तो भगवान् के दीक्षा लेने के बाद बिलकुल भोगों से विरक्त हो गई थी।

रथनेमि का यह दुष्टअध्यवसाय राजीमती को मालूम हो गया, इससे वह एकदिन शिखरिणी का भोजन कर के बैठी थी, उसी समय रथनेमि उसके पास आया, तब राजीमती ने मयणफल को सूँघकर खाये हुए भोजन का वान्त किया, और कहा कि—हे रथनेमि! इस वान्त शिखरिणी को तूँ खा ले। रथनेमि ने कहा—यह भोजन क्या खाने योग्य हैं? भला इसे मैं कैसे खा सकता हूँ?

राजीमती ने कहा जो तूँ रसनेन्द्रियविषयभूत शिखरिणी को नहीं खा सकता, तो भगवान अरिष्टनेमिजी की उपयुक्त मेरी वांछा क्यों करता है, क्या यह अकार्य करना तुझको उचित है। इसलिए—

धिरत्थु तेऽजसोकामी!, जो तं जीवियकारणा।
वंतं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे।।७।।

भावार्थ—हे अयशस्कामिन्! तेरे पौरुषत्व को धिक्कार हो, जो तूँ असंयम से जीने की इच्छा से वान्तभोगों के भोगने की इच्छा करता है। मर्यादा उल्लंघन करने से तो तेरा मरना ही कल्याणरूप है, अर्थात् अकार्य प्रवृत्ति से तेरा कल्याण नही होगा। क्योंकि जलती हुई अग्नि में पैठना अच्छा है, परन्तु शीलस्खलित जीवित रहना अच्छा नहीं है।

राजीमती के ऐसे वचनप्रहारों से सम्हलकर रथनेमि वैराग्य से दीक्षित हुआ। उधर राजीमती ने भी संसार को असार जानकर चारित्र ग्रहण कर लिया। एक समय रथनेमि द्वारा नगरी में गोचरी लेने को गया, वहाँ ऊँच नीच मध्यम कुलों में पर्यटन कर पीछा भगवान के पास आते हुए रास्ते में वर्षा वरसने से पीड़ित हो एक गुहा में ठहर गया। इतने में राजीमती भी भगवान् को वन्दनकर पीछी लौटी, और वर्षा बहुत होने लगी, इससे 'वर्षा जब तक बंद न हो तब तक कहीं ठहरना चाहिए?' ऐसा विचार कर जिस गुहा में

रथनेमि था उसी में आई और भीजें हुए कपड़ों को उतार कर सुखाने लगी।

दिव्यरूपधारिणी संयती के अङ्ग प्रत्यङ्गों को देखकर रथनेमि फिर कामातुर हो भोगों के लिए प्रार्थना करने लगा, तब संयती राजीमती ने धैर्य धारण कर कहा कि—

अहं च भोगरायस्स, तं च सि अंधगविण्हिणो।
मा कुले गंधणे होमो, संजमं निहुओ चर।।८।।

भावार्थ—हे रथनेमि! मैं उग्रसेन राजा की पुत्री हूँ, और तूं समुद्रविजय राजा का पुत्र है, इससे ऐसे प्रशस्तकुल में उत्पन्न हो विषसदृश वान्त विषयरस का पानकर स्व स्व उत्तम कुल के विषे गंधनजाति के सर्प समान नहीं होना चाहिए। अतएव मन को स्थिरकर संजम को आचरण कर, अर्थात् निर्दोष चारित्र पालन कर।

जइ तं काहिसि भावं, जा जा दिच्छसि नारिओ।
वायाविद्धु व्व हडो, अट्ठिअप्पा भविस्ससि।।६।।

भावार्थ—तूं जिन २ स्त्रियों को देखेगा उन्हीं-उन्हीं स्त्रियों के विषय में 'यह सुन्दर है यह अतिसुन्दर है' इस वास्ते इसके साथ काम विलास करूँगा, इस प्रकार के भावों को जो करेगा तो पवन से ताड़ित नदी जलोपरि स्थित हड नामक वनस्पति के समान अस्थिरात्मा होगा। अर्थात् संयम में जिसकी आत्मा स्थिर नहीं है उसको प्रमादरूप पवन से ताड़ित हो संसार में अनन्तकाल तक इधर उधर अवश्य घूमना पड़ेगा।

संयती राजीमती के वैराग्यजनक सुभाषित वचनों को सुनकर 'रथनेमि' ने अंकुश से जैसे हस्ती स्वभावस्थित होता है वैसे विषयों से जीवितपर्यन्त विरक्त हो संयमधर्म में अपनी आत्मा को स्थिर किया।

यहाँ पर यह शंका अवश्य होगी कि जो चारित्र लेकर विषयाभिलाषी होवे, और फिर भ्रातृपत्नी के साथ कामसेवन की इच्छा रक्खे, यह नितान्त अनुचित है, तो उसको पुरुषोत्तम कहना ठीक नहीं है।

इसका समाधान टीकाकार महर्षियों ने ऐसा किया है कि—कर्म की विचित्रता से रथनेमि को विषयअभिलाषा तो हुई, परन्तु उसने इच्छानुरूप विषयों को सेवन नहीं किया, किन्तु

राजीमती के वचनप्रहारों से फिर सम्हलकर विषयविरक्त हो गया, अतएव रथनेमि पुरुषोत्तम ही है, क्योंकि जो मनुष्य अकार्य में प्रवृत्ति करता है वही पुरुषोत्तम नहीं कहा जा सकता।

इसलिए जो पुरुष विकाराधीन होकर अकार्य में नहीं फंसता, किन्तु सावधान हो आजन्म ब्रह्मचर्य पालन करता रहता है, वह 'उत्तमोत्तम' ही है। वास्तव में कभी विकाराधीन न होना सर्वोत्तमोत्तम है, परन्तु कदाचित् प्रसंगवश चित्त चल विचल हो जाय, तो उसको शीघ्र रोक कर शुभविचारों में प्रवृत्ति करना चाहिए। क्योंकि जैसे जलसे सरोवर, धन से प्रभुता, वेग से अश्व, चन्द्र से रात्रि, जीव से शरीर, सद्गुण से पुत्र, उत्तमरस से काव्य, शीतल छाया से वृक्ष, लवण से व्यंजन, और प्रेम से प्रमदा शोभित है, उसी तरह उत्तम विचारों से मनुष्य की शोभा होती है। अतएव सद्गुण की इच्छा रखने वाले मनुष्यों को निरन्तर अपने विचारों को सुधारते रहना चाहिए। जो विचारों को सुधारता रहता है उसको विषयादि विकार कभी नहीं सताते। विचार का दूसरा नाम भावना है। भावना दो प्रकार की है, एक तो शुभ भावना, और दूसरी अशुभ भावना।

पूर्व वर्णित मैत्री आदि शुभ, और क्रोध आदि अशुभ भावना कही जाती है, शुभ भावनाओं से आत्मा निर्विकारी, और अशुभभावनाओं से विकारी होती है, ब्रह्मचारियों को नित्य शुभभावनाओं की ओर विशेष लक्ष्य रखना चाहिए, जिससे आत्मा निर्विकारी बन उत्तमोत्तम बने। क्योंकि निर्विकारी मनुष्य ही आर्त्त रौद्र ध्यान, मद मात्सर्य आदि दोषों से रहित हो अपना और दूसरों का कल्याण कर उत्तमोत्तम पद विलासी बना सकता है।

• • •

उत्तम पुरुषों के लक्षण—

***पिच्छिय जुवईरूवं,**
मणसा चिंतेइ अहव खणमेगं।
जो नायरइ अकज्जं,
पत्थिज्जंतो वि इत्थीहिं।।१६।।

---

* प्रेक्ष्य युवतीरूपं, मनसा चिन्तयत्यथवा क्षणमेकम्।
यो नाचरत्यकार्यं, प्रार्थ्यमानोऽपि स्त्रीभिः।१६।

***साहू वा सड्ढो वा,**
सदारसंतोससायरो हुज्जा।
सो पुण उत्तममणुओ,
नायव्वो थोवसंसारो।।20।।

शब्दार्थ—(जो) जो (साहू) साधु (जुवईरूवं) स्त्रियों के रूप को (पिच्छिय) अवलोन कर (खणमेगं) क्षणमात्र (मणसा) मनसे (चिंतेइ) विषय की चिन्ता करता है (अहव) अथवा (इत्थीहिं) स्त्रियों से (पत्थिज्जंतो वि) प्रार्थित-याचित होने पर भी (अकज्जं) अकार्य (नायरइ) नहीं आचरण करता।।१६।। (साहू) साधु (वा) अथवा (सड्ढो) श्रावक (सदारसंतोससायरो) स्वस्त्री में अतीवसन्तोषी (हुज्जा) हो (सो) वह साधु और श्रावक (थोवसंसारो) अल्पसंसारी (उत्तममणुओ) उत्तम मनुष्य (नायव्वो) जानना चाहिए।

भावार्थ—युवावस्थावाली रूपवती स्त्रियों को अवलोकनकर क्षण भर मन से विषयभोग की इच्छा, अथवा स्त्रियों से भोग के लिए प्रार्थित होने पर भी जो पुरुष विषयाचरण नहीं करता, किन्तु साधु हो तो स्वकीय ब्रह्मचर्य, व श्रावक हो तो ब्रह्मचर्य अथवा स्वदारसन्तोषव्रत पालन करता रहता हो वह 'उत्तम' पुरुष कहा जाता है।

विवेचन—जिन साधु अथवा स्वदारसन्तोषी श्रावकों का चित्त युवतियों के रूप हाव भाव आदि को देखकर चल विचल नहीं होता, वे महापुरुष उत्तम कोटी में समझे जा सकते हैं। इससे यह बात सिद्ध हुई की साधुओं को संसारावस्था में रमणियों के साथ की हुई कामक्रीड़ा का स्मरण न कर सर्वथा ब्रह्मचर्य पालन कर वीर्यरक्षा करने में उद्यत रहना चाहिए। क्योंकि जिसने वीर्यरक्षा नहीं की, वह धर्म के ऊँचे सोपान पर चढ़ने के लिए असमर्थ है।

वीर्य मनुष्य के शरीर का राजा है, जैसे राजा बिना राज्य व्यवस्था नहीं चल सकती, वैसे ही वीर्यहीन मनुष्य प्रभारहित हो कम-हिम्मत होता है, इससे वह अपनी आत्म-शक्ति का विकास भले

* साधुर्वा श्राद्धो वा, स्वदारसन्तोषसादरो भवेत्।
स पुनरुत्तममनुष्यो, ज्ञातव्यः स्तोकसंसारः।20।

प्रकार नहीं कर सकता। इसी से श्री हेमचन्द्रसूरीश्वरजी महाराज ने लिखा है कि—

> 'प्रयातु लक्ष्मीश्चपलस्वभावा,
> गुणा विवेकप्रमुखाः प्रयान्तु।
> प्राणाश्च गच्छन्तु कृतप्रयाणाः,
> मा यातु सत्त्वं तु नृणां कदाचित्' ॥१॥

भावार्थ—चाहे चपलस्वभाववाली लक्ष्मी चली जाय, चाहे विवेक आदि गुण चले जायँ, और प्रयाणोन्मुख प्राण भी चले जायँ, परन्तु मनुष्यों का सत्त्व-वीर्य कभी नहीं जाना चाहिये, क्योंकि वीर्यरक्षा की जायगी तो विवेक प्रमुख सभी गुण स्वयं उत्पन्न हो जायेंगे।

वीर्य रक्षा करना सर्वोत्तम गुण है इसी से अति दुर्जय कर्मों का नाश होकर परमानन्दपद प्राप्त होता है। अतएव व्याख्यान देने वालों को इस गुण की आवश्यकता है, लिखने वालों को, युद्धवीर को, और वादवीर को इसी गुण की आवश्यकता है। मुनिजन भी इस गुण के बिना आत्म कल्याण व देशोपकार नहीं कर सकते। कोई भी महत्व का कार्य जिसको देखकर लोक आश्चर्यान्वित हों, वह वीर्य रक्षा के अभाव में पूर्ण नहीं हो सकता। पूर्व समय में मनुष्यों की दिव्य शक्ति, उनका अभ्यास और उनकी स्मरणशक्ति इतनी प्रबल थी कि जिसको सुनने से आश्चर्य और संशय उत्पन्न होता है, लेकिन इस समय ऐसा न होने का कारण शारीरिक निर्बलता अर्थात् वीर्यरक्षा न करना ही है, पूर्व पुरुषों में वीर्य रक्षा (ब्रह्मचर्य) रखने का सद्‌गुण महोत्तम प्रकार का था, इससे वे आश्चर्यजनक कार्यों को क्षणमात्र में कर डालते थे। इसलिये साधुओं को उचित है कि सर्वप्रकारेण ब्रह्मचर्य पालन करते रहें, किन्तु विषयाधीन न हों।

इसी तरह श्रावकों को भी ब्रह्मचर्य पालन करना चाहिये परन्तु ब्रह्मचर्य का पालन करना बड़ा कठिन है, इससे यदि सर्वथा ब्रह्मचर्य न पाला जा सकता हो तो स्वदारसन्तोषव्रत धारण करना चाहिये। क्योंकि प्राण सन्देह को उत्पन्न करने वाला, उत्कृष्ट वैर का कारण, और दोनों लोक में विरुद्ध परस्त्री गमन, बुद्धिमानों को अवश्य छोड़ने के योग्य है। परस्त्रीगामी का सर्वस्व नष्ट होता है,

बधबन्धनादि कष्ट में पड़कर आखिर नरक का अतिथि बनना पड़ता है। पर स्त्रियों में रमण करने की इच्छा से विश्वविजयी रावण, कीचक, पद्मोत्तर और ललिताङ्ग आदि अनेक लोग निन्दा के पात्र बन कर दुःखी हुए हैं। अतएव अतिलावण्यवती, सौन्दर्यसंपन्न और सकल कलाओं में निपुण भी जो परस्त्री हो, तौ भी वह त्याग करने ही के लायक है, जब शास्त्रकार स्वस्त्री में भी अति आसक्त रहना वर्जित करते हैं, तो परस्त्रीगमन की बात ही क्या है? वह तो त्याज्य ही है।

'तुम्हें जिस वीर्य या पराक्रम की प्राप्ति हुई है, वह तुम्हारी और दूसरों की उन्नति करने के लिये सबसे प्रधान और उत्तम साधन है। उसको पाशविक प्रवृत्तियों के सन्तुष्ट करने में मत खोओ। उच्च आनन्द की पहचान करना सीखो, यदि बन सके तो अखण्ड ब्रह्मचारी रहो, नहीं तो ऐसी स्त्री खोजकर अपनी सहचारिणी बनाओ, जो तुम्हारे विचारों में बाधक न हो, और उस ही से सन्तुष्ट रहो। अगर सहचारिणी बनने के योग्य कोई न मिले, या मिलने पर वह तुमको प्राप्त न हो सके, तो अविवाहित रहने का ही प्रयास करो। विवाहित स्थिति चारों तरफ उड़ती हुई मनोवृत्तियों को रोकने के लिये संकुचित या मर्यादित करने के लिये है, वह यदि दोनों के, या एक के असन्तोष का कारण हो जाय, तो उलटी हानिकारक होगी। अतः अपनी शक्ति, अपने विचार, अपनी स्थिति, अपने साधन और पात्र की योग्यता आदि का विचार करके ही ब्याह करो; नहीं तो कुँवारे ही रहो। यह माना जाता है कि विवाह करना ही मनुष्य का मुख्य नियम है, और कुँवारा रहना अपवाद है; परन्तु तुम्हें इस के बदले कुँवारा रहकर ब्रह्मचर्य पालना, या सारी, अथवा मुख्य बातों की अनुकूलता होने पर ब्याह करना, इसे ही मुख्य नियम बना लेना चाहिये। विवाहित जीवन को विषयवासनाओं के लिये अमर्यादित, यथेच्छ, स्वतन्त्र मानना सर्वथा भूल है। वासनाओं को कम करना और आत्मिक एकता करना सीखो। अश्लील शब्दों से, अश्लील दृश्यों से, और अश्लील कल्पनाओं से सदैव दूर रहो। तुम किसी के सगाई ब्याह मत करो, क्योंकि तुम्हें इसका किसी ने अधिकार नहीं दे रक्खा है। विवाह के आशय को नहीं समझने वाले और सहचारीपन के कर्त्तव्य को नहीं पहचानने वाले पात्रों को जो मनुष्य एक दूसरे की

बलात् प्राप्त हुई दासता, या गुलामी में पटकता है, वह चौथे व्रत का अतिक्रम करता है, दया का खून करता है, और चोरी करता है।' *

मन को स्त्रीसमागम से दूर रखना, स्त्रियों के साथ रागदृष्टि से बातचीत न करना, काम विकार के नेत्रों से स्त्रियों को न देखना, तथा स्त्रियों का स्पर्श न करना, ये, अथवा ब्रह्मचर्य और विवाह हुए बाद स्वस्त्री में, तथा स्त्री को स्वपति में, जो सन्तोष हो, वही 'शील' कहा जाता है।

हरएक पुरुष को कौमारावस्था में अट्ठारह या बीस, तथा स्त्री को सोलह वर्ष तक तो अवश्य ब्रह्मचर्य परिपालन करना चाहिये। विवाह के अनन्तर पुरुषों को स्वदार, और स्त्रियों को स्वपति में सन्तोष व्रत धारण करना चाहिये। जहाँ पर पुरुष स्त्रियों में शीलदृढ़ता का सद्गुण होता है वहाँ निरन्तर अटूट स्नेहभाव बना रहता है, और जो पुरुष पर स्त्रियों में, तथा स्त्रियाँ पर पुरुषों में आसक्त हैं, वे अनेक जन्म तक क्लीबता, तिर्यक्‌योनि में उत्पत्ति दौर्भाग्य, निर्बलता और अपमान आदि विपत्तियों के पात्र बनकर दुःखी होते हैं।

शीलपरिपालन से शरीर पूर्ण निरोगी और तेजस्वी बनता है, इसलिये शीलवान् विद्युत की तरह दूसरों के चित्त को अपनी तरफ खींचकर सुशील और सद्गुणी बना सकता है। संसार में जो-जो पुरुष पराक्रमी, तथा महत्कार्यकर्त्ता हुए हैं, वे शील के प्रभाव से ही प्रख्यात हुए हैं। स्वदार-सन्तोषी मनुष्य यदि दीक्षा लेकर भी संयोगवश विकारी होगा तो भी वह अपनी योग्यता व उत्तमता का विचार कर अकार्य में प्रवृत्त नहीं हो सकेगा, और न उसको कोई स्त्री मोहपाश में डाल सकेगी, क्योंकि वह स्त्रियों से निरन्तर बचकर रहता है।

• • •

अब मध्यमपुरुषों का स्वरूप कहते हैं।

**पुरिसत्थेसु पवट्टइ,
जो पुरिसो धम्मअत्थपमुहेसु।
अन्नोन्नमवाबाहं,
मज्झिमरूवो हवइ एसो ।।२१।।

---

* जैन हितैषी भाग ११ अंक ३ पृष्ठ १७० से उद्धृत।

** पुरुषार्थेषु प्रवर्त्तते, यः पुरुषो धर्मार्थप्रमुखेषु।
अन्योऽन्यमव्याबाधं, मध्यमरूपो भवत्येषः।२१।

शब्दार्थ—(जो) जो (पुरिसो) मनुष्य (धम्म-अत्थपमुहेसु) धर्म अर्थ प्रमुख (पुरिसत्थेसु) पुरुषार्थों में (अन्नोन्नं) परस्पर (अवाबाहं) बाधारहित (पवट्टइ) प्रवृत्ति करता है, (एसो) वह (मज्झिमरूवो) मध्यमरूप (हवइ) होता है।

भावार्थ—जो धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थों को परस्पर बाधारहित साधन करता है, वह 'मध्यमपुरुष' कहलाता है।

विवेचन—धर्म, अर्थ और काम को किसी प्रकार की बाधा न पड़े, इस प्रकार तीनों पुरुषार्थों का उचित सेवन करने वाले मनुष्य मध्यमभेद में गिने जाते हैं। इससे यह बात भी स्पष्ट जान पड़ती है कि ऐसा पुरुष मार्गानुसारि गुणों के बिना नहीं हो सकता, क्योंकि 'धर्म, अर्थ और काम को परस्पर बाधारहित सेवन करना' यह मार्गानुसारी गुणों में से इक्कीसवाँ गुण है, अत एव मार्गानुसारि, सदाचार प्रिय और मध्यस्थ स्वभाव वाले पुरुष मध्यमभेद में गिने जा सकते हैं। हरएक धर्म से सार सार तत्त्व को खींच लेना, सदाचार संपन्न मनुष्यों के सद्गुणों पर अनुरागी बनना, और कलह से रहित हो समानदृष्टि रहना यह मार्गानुसारी पुरुषों का ही काम है। मार्गानुसारी पुरुषों का हृदय आदर्श के समान है, उसमें सद्गुणों का प्रतिबिम्ब पड़े बिना नहीं रह सकता, और वह प्रतिबिम्ब प्रतिदिन बढ़ता ही रहता है। मार्गानुसारी पुरुषों की आत्मा महान् कार्य सम्पादन के लिये या अनन्त या असंख्य भवों की व्याधि मिटाने के लिये और आत्मशक्ति, विचार बल, या नीतिशास्त्र का विकास करने के लिये समर्थ होता है। अत एव प्रसंग प्राप्त मार्गानुसारी गुणों का स्वरूप लिखा जाता है, जिनको मनन करने से मनुष्य उच्च कोटि में प्रवेश कर सकता है।

'न्यायसंपन्नविभवः, शिष्टाचारप्रशंसकः।
कुलशीलसमैः सार्धं, कृतोद्वाहोऽन्यगोत्रजैः' ।।१।।

१ 'न्यायसंपन्नविभवः'—प्रथम न्यायोपार्जित द्रव्य हो तो उसके प्रभाव से सभी सद्गुण प्राप्त हो सकते हैं, परन्तु न्याय को जाने बिना न्याय का पालन भले प्रकार नहीं हो सकता, अतएव न्याय का स्वरूप यह है कि—''स्वामिद्रोहमित्रद्रोहविश्वसितवञ्चन-चौर्याऽऽदिगर्ह्यार्थोपार्जन परिहारेणार्थोपार्जनोपायभूतः स्वस्ववर्णानुरूपः

सदाचारो न्याय इति।" अर्थात् स्वामिद्रोह, मित्रद्रोह विश्वस्तपुरुषों का वञ्चन और चोरी आदि निन्दित कर्मों से द्रव्य उपार्जन करना इत्यादि कुकर्मों का त्यागकर अपने अपने वर्णानुसार जो सदाचार है, उसका नाम न्याय, और उससे प्राप्त जो द्रव्य है, उसका नाम 'न्यायसंपन्न द्रव्य' है। न्यायोपार्जित द्रव्य उभय लोक में सुखकारक और अन्यायोपार्जित द्रव्य दुःखदायक होता है।

अन्याय से पैदा की हुई लक्ष्मी का परिभोग करने से बधबन्धनाऽऽदि राजदण्ड, और लोकापमान होता है, और परलोक में नरक तिर्यञ्च आदि दुर्गतियों में वेदना का अनुभव करना पड़ता है। लोगों में यह भी शङ्का होती है कि इसके पास बिलकुल द्रव्य नहीं था, तो क्या किसी को ठगकर या चोरी करके द्रव्य लाया है? कदाचित् प्रबलपुण्य का उदय हुआ तो इस लोक में तो लोकापमान या राजदण्ड नहीं होगा, किन्तु भवान्तर में तो उसका फल अवश्य ही भुगतना पड़ेगा।

यह तो निःसंशय कहा जा सकता है कि जो अन्यायोपात्त द्रव्य का परिभोग करता है उसकी सुबुद्धि नष्ट होकर अकार्य में प्रवृति करने को बुद्धि दौड़ा करती है इसी विषय को दृढ़ करने के लिये शास्त्रकारों ने यह उदाहरण दिया है कि—

किसी राजा ने राजमहल बनाने के लिये ज्योतिषियों को बुलाकर कहा कि—खातमुहूर्त किस रोज करना चाहिये? कोई ऐसा मुहूर्त निकालो, जिससे कि हमारी संतति राजभवन में रहकर सुखपूर्वक चिरकाल तक राज्य करे। राजा के पूछते ही ज्योतिषियों ने सर्वोत्तम खातमुहूर्त निकाल दिया। मुहूर्त के एक दिन पेस्तर नगर में यह उद्घोषणा कराई गयी कि—कल राजमहल बनाने का खातमुहूर्त है, इसलिये वहां सभी को हाजिर होना चाहिये। इस उद्घोषणा को सुनकर दूसरे दिन सेठ साहूकार आदि सैकड़ों लोग इकट्ठे हुए।

राजा ने ज्योतिषियों से कहा कि—अब मुहूर्त में कितना समय घटता है?। ज्योतिषी बोले कि—चार घड़ी। राजा ने कहा यदि इस समय में कोई वस्तु विधि कराने के लिये चाहिये तो कहो। ज्योतिषियों ने कहा—महाराज! खातमुहूर्त के वास्ते पाँच जाति के पाँच रत्न चाहिये, जो कि न्यायोपार्जित हों। राजा ने अपने भंडार से लाने को कहा। इतने में ज्योतिषियों ने कहा कि—राजन्!

राज्यलक्ष्मी के विषय में तत्त्ववेत्ता पुरुषों का अभिप्राय कुछ और ही है, अत एव किसी व्यापारी के यहाँ से मंगवाना चाहिये। राजा के पास हजारों व्यापारी उपस्थित थे, उनकी तरफ राजा ने देखा, किन्तु कोई व्यापारी बोला नहीं। तब मंत्री ने कहा—जो कोई नीतिपूर्वक व्यापार करता हो, उसको आज राजवल्लभ बनने का समय है। परन्तु सब कोई अपने कर्त्तव्यों को जानते हैं, जो कभी स्वप्न में भी नीतिपथ के दर्शन नहीं करते, वे यदि नीतिज्ञ बनना चाहें तो कब बन सकते हैं?। सब लोग मौन पकड़ कर चुपचाप बैठ रहे। तब राजा ने कहा—क्या मेरे शहर में कोई भी नीति से व्यापार करने वाला नहीं है? इतने में एक प्रामाणिक मनुष्य ने कहा कि—राजन्! 'पाप जाने आप, और मा जाने बाप' इस लोकोक्ति के अनुसार यहाँ उपस्थित सभी अन्यायप्रिय मालूम पड़ते हैं। लेकिन इस शहर में 'लल्लणसेठ' कभी अनीति का व्यापार नहीं करता, किन्तु इस समय वह यहाँ हाजिर नहीं है।

इस बात को सुनकर राजा ने सेठ को बुलाने के लिये सवारी के सहित मंत्री को उसके घर पर भेजा। मंत्री ने सेठ के घर पर जाकर कहा—सेठजी! चलिये, आपको राजा साहब बुलाते हैं, इसीलिये यह सवारी भेजी है। सेठ आनन्दित हो कपड़ा पहनकर चलने के लिये तैयार हुआ। मंत्री ने सवारी में बैठने को कहा। तब सेठ ने जवाब दिया कि आपके घोड़े मेरा दाना पानी नहीं खाते, अत एव इसमें मैं नहीं बैठ सकता, मैं तो पैदल ही चलूंगा, ऐसा कहकर प्रधान के साथ सेठ पैदल चलकर राजा के पास आया, और राजा को नमस्कार कर उचित स्थान पर बैठ गया।

राजा ने सेठ से कहा कि—तुम्हारे पास न्याय संपन्न विभव है, इससे खातमुहूर्त के लिये पाँच जाति के पाँच रत्न चाहिये। सेठ ने विनयपूर्वक हाथ जोड़कर कहा कि—राजन्! नीति का द्रव्य अनीतिमार्ग में नहीं लग सकता। सेठ का वचन सुनते ही राजा सरोष हो बोला कि—तुम्हें रत्न देना पड़ेंगे? सेठ बोला—स्वामिन्! यह घर-बार सब आपका ही है, आप चाहें जब ले सकते हैं। इतने में ज्योतिषियों ने कहा कि—हुजूर! यों लेना भी तो अन्याय है क्योंकि जब तक सेठ प्रसन्न होकर अपने हाथ से न देवे, और वे जबरदस्ती लिये जायँ तो अन्याय नहीं तो और क्या है?। राजा ने

कहा कि—इस बात में प्रमाण क्या है? कि राजद्रव्य अन्यायोपार्जित है?। ज्योतिषियों ने कहा—राजन्! इसकी परीक्षा करना यही प्रमाण प्रत्यक्ष है।

राजा ने प्रधान को एक सेठ की, और एक अपनी सोनामोहर, निसान करके दी। प्रधान ने अपने नौकरों को बुलाकर कहा कि ये दो सोनामोहर दी जाती हैं, इसमें से एक किसी पापी को और एक धर्मात्मा तपस्वी को देना। दोनों नौकर एक-एक सोनामोहर को लेकर गाँव के बाहर भिन्न-भिन्न रास्ते होकर निकले। जिसके पास सेठ की सोनामोहर थी, वह रास्ते में जा रहा था कि इतने में तो सामने कोई मच्छीमार मिला, उसे देख कर विचारा कि इससे बढ़कर पापी कौन है?। क्योंकि यह प्रातःकाल उठकर स्वच्छ जलाशय में रहने वाली मच्छियों को पकड़कर मारता है। अतएव यह सोनामोहर इसे ही दे दूँ। ऐसा विचार कर सोनामोहर उस मच्छीमार को दे दी।

मच्छीमार को सोनामोहर प्रथम ही प्राप्त हुई है; इससे उसने विचारा कि इसको कहाँ रक्खूँ, क्योंकि वस्त्र में तो मेरे पास एक लंगोट ही है, इसलिए इसमें बाँधना तो ठीक नहीं। बहुत विचार करने पर अन्त में उसको अपने मुँह में रख ली। आगे चलते-चलते ज्योंही न्यायोपार्जित सोनामोहर का अंश थूक के साथ पेट में गया कि मच्छीमार की विचारश्रेणी बदल गई। मच्छीमार मन ही मन में विचार करने लगा कि—अहो! यह किसी धर्मात्मा ने मुझको धर्म जानकर दी है, इसके कम से कम पन्द्रह रुपये आवेंगे किन्तु इन मछलियों के तो दो चार आने मुश्किल से मिलेंगे, हाल मछलियाँ मरी नहीं हैं, तो इतना पुण्य दाता को ही हो, ऐसा समझकर मच्छीमार जलाशय में मछलियों को छोड़ आया, और बाजार में आकर सोनामोहर के पन्द्रह रुपया लिये, उसमें से एक रुपया का ज्वार, बाजरी, वग़ैरह धान्य लेकर घर आया।

इसे देखकर लड़के और स्त्री विचार में पड़े, देखो निरन्तर यह बारह बजे घर आता था और थोड़ा सा धान्य लाता था, आज तो विकसित वदन हो बहुत धान्य लेकर जल्दी आया है। इस प्रकार मन में ही विचार कर उस धान्य को सबने कच्चा ही फाकना शुरू

कर दिया, उसका असर होते ही स्त्री ने कहा कि—आज इतना धान्य कहाँ से लाये ?

मच्छीमार ने कहा कि—एक धर्मात्मा ने मुझ को सोनामोहर बिना माँगे ही दी थी उसको बटाकर एक रुपये का तो धान्य लाया हूँ, और चवदह रुपये मेरे पास हैं। उनको देखकर लड़के व स्त्री ने कहा कि—अब दो महिना की खरची तो अपने पास मौजूदा है, तो रात्रि में तालाब पर जाना, और निरपराधी जन्तुओं का नाश करना यह नीचकर्म करना ठीक नहीं है। इससे तो मजूरी करना सर्वोत्तम है। सबने ऐसा विचार किया और मच्छीमारों का मुहल्ला छोड़कर साहूकारों के पड़ोस में जा बसा, इस तरह यावज्जीवन नीचकर्म से विरक्त हो आनन्दपूर्वक मजूरी से अपना निर्वाह करने लगा।

इसी तरह दूसरा मनुष्य राजा की सोनामोहर लेकर एक ध्यानस्थ योगी के पास आया और उसे धर्मात्मा तपस्वी जानकर मोहर उसके सामने रख दी और किसी वृक्ष के नीचे बैठकर उसकी व्यवस्था देखने लगा।

योगीजी ने ध्यान समाप्त कर देखा तो सामने मोहर पड़ी है उसको देखते ही सोचा कि—'मैं ने किसी से याचना नही की, याचना करने से क्या कोई सोनामोहर भेंट करता है ?, शिव ! शिव !! चार आना भी मिलना मुश्किल है। यह तो परमेश्वर ने ही भेजी है, क्योंकि मैं ने ध्यान के द्वारा जगत का तो स्वरूप देख लिया। परन्तु अनुभव द्वारा स्त्रीभोग का साक्षात्कार नहीं किया, अतएव ईश्वर ने कृपाकर यह भेंट दी है' इत्यादि अनर्थोत्पादक विचार योगी के हृदय में उमड़ आए। बस योगी ने अन्यायोपार्जित सोनामोहर के प्रभाव से कुकर्मवश चालीस वर्ष का योगाभ्यास गंगा के प्रवाह में बहा दिया, क्योंकि स्त्री समागम से योग नहीं रह सकता। कहा भी है कि—

*आरंभे नत्थि दया, महिलासंगेण नासई बंभं।
संकाए सम्मत्तं, अत्थग्गाहेण पव्वज्जं' ।।१।।

१, भावार्थ—आरंभ करने में दया नहीं है, स्त्रीसमागम से ब्रह्मचर्ययोग, संशय रखने से सम्यक्त्व और परिग्रह (द्रव्य) ग्रहण करने से संयमयोग का नाश होता है !

---

*आरम्भे नास्ति दाया, महिलासंगेन नाशयति ब्रह्म।
शङ्कया सम्यक्त्वं, अर्थग्राहेण प्रव्रज्याम्' ।।११।।

इस प्रकार नीतिसंपन्न द्रव्य से मच्छीमार का सुधार और अनीतिसंपन्न द्रव्य से योगी के संयमयोग का नाश ये दोनों बातें राजा के पास सभा में जाहिर की गईं, उनको सुनकर राजा समझ गया कि—वास्तव में नीतिमान् पुरुष निर्भय रहते हैं और अनीतिमान् सर्वत्र शङ्कित रहते हैं, तथा नीतिमान् पुरुषों के पास लक्ष्मी स्वयमेव चली जाती है। कहा भी है कि—

'निपानमिव मण्डूकाः, सरः पूर्णमिवाण्डजाः।
शुभकर्माणमायान्ति, विवशाःसर्वसंपदः' ।।१।।

भावार्थ—जिस प्रकार मंडूक (देडका) कूप, और पक्षिसमूह जलपूर्ण सरोवर के पास स्वयमेव जाते हैं, उसी प्रकार नीतिमान् मनुष्य के पास शुभकर्म से प्रेरित हो सर्वसंपतियाँ स्वयमेव चली जाती हैं।

अतएव न्यायपूर्वक द्रव्य उपार्जन करना यह गृहस्थधर्म का प्रथम कारण और मार्गानुसारी का प्रथम गुण है। इसलिए शुद्धान्तःकरण (ईमानदारी) के साथ जिस तरह हो सके न्यायपूर्वक ही द्रव्य पैदा करना चाहिए, जिससे उभयलोक में सुख प्राप्त हो सके।

२, शिष्टाचारप्रशंसक—अर्थात् भव्य पुरुष को शिष्ट पुरुषों के आचार की प्रशंसा करने वाला होना चाहिए। क्योंकि शिष्टाचार प्रशंसक मनुष्य किसी दिन उत्तम आचार को अवश्य प्राप्त कर सकता है। व्रती, ज्ञानी और वृद्धपुरुषों की सेवा से जिनने शिक्षा प्राप्त की है वे 'शिष्ट,' और शिष्टों का जो आचार वह 'शिष्टाचार' कहा जाता है। अथवा लोकापवाद से डरना, अनाथ प्राणियों का उद्धार करने में आदर रखना, कृतज्ञता और दाक्षिण्यता आचरण करना, उसको भी शिष्टाचार (सदाचार) कहते हैं। सत्पुरुषों के आचार की प्रशंसा कवि इस प्रकार करते हैं—

विपद्युच्चैः स्थैर्यं पदमनुविधेयं च महतां,
प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभङ्गेऽप्यसुकरम्।
असन्तो नाभ्यर्थ्याः सुहृदपि न याच्यस्तनुधनः,
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम् ?' ।।१।।

भावार्थ—विपत्तिसमय में ऊँचे प्रकार की स्थिरता रखना, महापुरुषों के पद अनुकरण करना, न्याययुक्त वृत्ति को प्रियकर

समझना, प्राणावसान में भी अकार्य नहीं करना, दुर्जनों से प्रार्थना, और अल्पधनी मित्र से याचना नहीं करना, इस प्रकार असिधारा के समान दुर्घट सत्पुरुषों का व्रत किस ने कहा?, अर्थात् सत्यवक्ता और तत्त्ववेत्ताओं ने प्रकाशित किया है, अतएव मनुष्यों को शिष्टाचार प्रशंसक अवश्य बनना चाहिए।

३ 'कुलशीलसमैः सार्धं, कृतोद्वाहोऽन्यगोत्रजैः।' जिनका कुल शील समान हो और भिन्नगोत्र हो उनके साथ विवाह करना चाहिये।

कुल— पिता, पितामहादि पूर्ववंश, और

शील— मद्यमांस निशिभोजनादि का त्याग।

पूर्वोक्त कुल और शील समान होवे तो स्त्री पुरुषों को धर्मसाधना में अनुकूलता होती है, परन्तु जो शील की समानता न हो तो नित्य कलह होने की संभावना है। उत्तमकुल की कन्या लघुकुल के पुरुष को दबाया करती है, और नित्य धमकी दिया करती है कि मैं पीहर चली जाऊँगी। अगर नीचकुल की कन्या हुई तो पतिव्रतादि धर्म में बाधा पड़ने का भय रहता है। इसी तरह शील में भिन्नता होने से प्रत्यक्ष धर्मसाधन में हानि दीख पड़ती है, क्योंकि एक तो मद्यपान मांसाहार अथवा रात्रिभोजन करने वाला है और दूसरे को उस पर अप्रीति है, ऐसी दशा में परस्पर प्रेमभाव कहाँ से बढ़ सकेगा और सांसारिक सुख का आनन्द कहाँ से आ सकता है?। अतएव समान कुल और शील की परमावश्यकता है, इसी से दंपतिप्रेम अभिवर्द्धित हो सकता है।

वर्त्तमान समय में एक धर्म के दो समुदाय दीख पड़ते हैं, जिनमें केवल क्रियाकाण्ड का ही भेद है, उन में कन्या व्यवहार (संबंध) होता है किन्तु बाद में धर्म विरुद्धता के कारण पति पत्नी के बीच में जीवित पर्यन्त वैर विरोध हुआ करता है जिससे वे परस्पर सांसारिक सुख भी भले प्रकार नहीं देख सकते, तो फिर कुलशील असमान हो, उनकी तो बात ही क्या कहना है?। क्योंकि ऐसे संबंध में तो प्रत्यक्ष प्रेमाऽभाव दृष्टिगोचर होता है।

भिन्नगोत्रवालों के साथ में विवाह करने का तात्पर्य यह है कि—एक पुरुष का वंश 'गोत्र', और उसमें उत्पन्न होने वाले 'गोत्रज' कहलाते हैं। गोत्रज के साथ में विवाहित होने से लोकविरुद्धता रूप

का भारी दोष लगता है। क्यों कि जो मर्यादा चली आती है वह अनेक बार पुरुषों को अनर्थ प्रवृत्ति से रोकती है। यदि गोत्रज में विवाह करने की मर्यादा चलाई जाय तो बहिन भाई भी परस्पर विवाह करने लग जाँय? और यवनव्यवहार आर्यलोगों में भी प्रगट हो जाय, जिससे अनेक आपत्तियों के आ पड़ने की संभावना है। अत एव शास्त्रकारों ने भिन्नगोत्रज के साथ में विवाह करना उत्तम बताया है! मर्यादायुक्त विवाह से शुद्ध स्त्री का लाभ होता है और उसका फल सुजातपुत्रादिक की उत्पत्ति होने से चित्त को शान्ति मिलती है। शुद्ध विवाह से संसार में प्रशंसा और देव, अतिथि आदि की भक्ति तथा कुटुम्ब परिवार का मान भले प्रकार किया जा सकता है, कुलीन स्त्रियाँ अपने कुल शील की ओर ध्यान कर मानसिक विकार होने पर भी अकार्य सेवन नहीं करती हैं। परन्तु मनुष्यों को चाहिए कि—समस्त गृहव्यवहार स्त्रियों के आधीन रक्खें १, द्रव्य अपने अधीन रखकर खर्च से अधिक स्त्रियों को न दें २, स्त्रियों को अघटित स्वतन्त्रता में प्रवृत्त न होने दें, किन्तु कबजे में रक्खें ३, और स्वयं परस्त्रियों को भगिनी अथवा मातृसमान समझें ४, इन चार हेतुओं को रखने से पति पत्नी के बीच में स्नेहभाव का अभाव नहीं हो सकता। अतएव समानकुल शील और भिन्न गोत्र वालों के साथ विवाह संबंध करने वाला पुरुष सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करता है।

'पापभीरुः प्रसिद्धं च, देशाचारं समाचरन् ।
अवर्णवादी न क्वापि, राजादिषु विशेषतः ।।२।।'

भावार्थ—४, पापभीरु— प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष अपायों (कष्टों) के कारणभूत पापकर्म से डरने वाला पुरुष गुणी बनता है। चोरी, परदारागमन, द्यूत आदि प्रत्यक्ष कष्ट के कारण हैं, क्योंकि इनसे व्यवहार में राजकृत अनेक विडम्बना सहन करना पड़ती हैं। मद्य मांसादि अपेय, अभक्ष्य पदार्थ अप्रत्यक्ष कष्ट के कारण हैं, क्योंकि इनके सेवन से भवान्तर में नरकादिगतियों में नाना दुःख प्राप्त होते हैं।

५, प्रसिद्धं च देशाचारं समाचरन्—अर्थात् प्रसिद्ध देशाचार का आचरण करना। यानी उत्तम प्रकार का बहुत काल से चला आया जो भोजन वस्त्र आदि का व्यवहार उसके विरुद्ध नहीं चलना चाहिए, क्योंकि देशाचार के विरुद्ध चलने से देसनिवासी लोगों के

साथ विरोध बढ़ता है, और विरोध बढ़ने से चित्त की व्यवस्था ठीक नहीं रहती, जिससे धार्मिक साधना में चित्त की स्थिरता नहीं रहती। अतएव देशाचार का पालन करने में दत्तचित्त रहने वाला पुरुष ही सद्गुणी बन सकता है।

६, 'अवर्णवादी न क्वापि, राजादिषु विशेषतः।' अर्थात् नीच से लेकर उत्तम मनुष्य पर्यन्त किसी की भी निन्दा नहीं करना चाहिए, क्योंकि निन्दा करने वाला मनुष्य संसार में निन्दक के नाम से प्रख्यात होता है, और भारी कर्मबन्धन से भवान्तर में दुःखी होता है। सामान्य पुरुषों की निन्दा से भी नरकादि कुगतियों की प्राप्ती होती है। तो उत्तम पुरुषों की निन्दा दुःखदायक हो इसमें कहना ही क्या है?। राजा, अमात्य, पुरोहित आदि की निन्दा तो बिलकुल त्याज्य ही है, क्योंकि इनकी निन्दा करने से तो प्रत्यक्ष द्रव्यनाश प्राणनाश और लोकविडम्बना होती दीख पड़ती है, अतः किसी का अवर्णवाद न बोलना चाहिए, अगर निन्दा करने का ही अभ्यास हो तो अपने दुष्कृतों की निन्दा करना सर्वोत्तम और लाभदायक है।

अनतिव्यक्तगुप्ते च, स्थाने सुप्रातिवेश्मिकः।
अनेकनिर्गमद्वार - विवर्जितनिकेतनः।।३।।

भावार्थ—७, अनेक द्वारों से रहित घरवाला गृहस्थ सुखी रहता है। अनेक द्वारों के निषेध से परिमित द्वार वाले घर में रहने का निश्चय होता है, क्योंकि ऐसे घरों में निवास करने से चौरादि का भय नहीं रह सकता। यदि घर में अनेक द्वार हों तो दुष्टलोगों के उपद्रव होने की संभावना है, तथा अतिव्यक्त और अतिगुप्त भी न होना चाहिए। जो अतिव्यक्त घर होगा तो चोरों का उपद्रव होगा, यदि अतिगुप्त होगा तो घर की शोभा मारी जायेगी, तथा अग्नि वगैरह के उपद्रव से घर को नुकसान पहुँचेगा।

जहाँ सज्जन लोगों का निवास हो वहाँ रहना चाहिये, क्योंकि सज्जनों के पाड़ोस में रहने से स्त्री पुत्रादिकों के आचार-विचार सुधरते हैं। कनिष्ठ पाड़ोसियों की संगति से सन्तति के आचार-विचार बिगड़ जाते हैं। और लोक निन्दा का पात्र बनना पड़ता है। अतएव गृहस्थों के लिये अनतिव्यक्त, अगुप्त, उत्तम पाड़ोस वाला और अनेक द्वारों से रहित घर श्रेष्ठ व सुखकारक होता है।

'कृतसङ्गः सदाचारै-र्मातापित्रोश्च पूजकः ।
त्यजन्नुपप्लुतस्थान-मप्रवृत्तश्च गर्हिते ।।४।।'

भावार्थ—८, उत्तम आचार वाले सत्पुरुषों का समागम करना। अर्थात् सामान्यतः जुआरी, धूर्त, दुराचारी, भट्ट, याचक, भांड, नट, तथा लौकिक में धोबी, माली, कुंभार प्रमुख की संगति धर्मिष्ठ पुरुषों को अहितकारक है। आजकल कई एक वेषधारी साधु और साध्वियाँ नीच जाति के मनुष्यों को साथ में रखते हैं, जिससे उसका परिणाम भयङ्कर निवड़ता है। क्योंकि गृहस्थों को भी जब अधम मनुष्यों की संगति करना मना है तो फिर साधुओं के लिये तो कहना ही क्या है?। नीच पुरुषों की सोबत करने वाले साधुओं का आदर सत्कार करने वाला गृहस्थ भी पाप का पोषक है, अतएव सत्संग करने वाला पुरुष धर्म के योग्य होता है।

९, 'मातापित्रोश्च पूजकः'—माता पिताओं की पूजा करने वाला गृहस्थ धर्म के योग्य है। अर्थात् संसार में माता पिताओं का उपकार सबसे अधिक है, अतएव उनकी सेवा तन, मन और धन से करना चाहिये। क्योंकि दश उपाध्याय की अपेक्षा एक आचार्य, सौ आचार्य की अपेक्षा एक पिता, और हजार पिता की अपेक्षा एक माता पूज्य है। इसलिये हर एक कार्य में माता-पिताओं की रुचि के अनुसार वर्त्तनेवाला पुरुष सद्गुणी बन सकता है।

१०, 'त्यजन्नुपप्लुतस्थानम्'—उपद्रव वाले स्थान का त्याग करने वाला पुरुष धर्म के लायक होता है। इससे स्वचक्र परचक्रादि उपद्रव, तथा दुर्भिक्ष, प्लेग, मारी आदि और जन विरोध आदि से रहित स्थान में रहना चाहिये। उपद्रवयुक्त स्थान में रहने से अकाल मृत्यु धर्म और अर्थ का नाश होने की संभावना है, और धर्म साधन भी बनना कठिन है।

११, 'अप्रवृत्तिश्च गर्हिते'—अर्थात् निन्दनीय कर्म में प्रवृत्ति नहीं करना चाहिये। देश, जाति और कुल की अपेक्षा से निन्दनीय कर्म तीन प्रकार के होते हैं—जैसे सौ वीर देश में कृषि कर्म, लाट में मद्यपान निन्दनीय है। जाति की अपेक्षा से ब्राह्मणों को सुरापान, तिल लवणाऽऽदि का व्यापार, और कुल की अपेक्षा से चौलुक्य वंशी राजाओं को मद्यपानादि निन्दनीय है। इत्यादि निन्दनीय कार्य करने

वाले पुरुषों के धर्मकार्य हास्याऽऽस्पद होते हैं, अतएव ऐसे कार्यों में प्रवृत्ति करना अनुचित है।

'व्ययमायोचितं कुर्वन्, वेषं वित्तानुसारतः।
अष्टभिर्धीगुणैर्युक्तः, शृण्वानो धर्ममन्वहम्'।।५।।

भावार्थ—१२, आवदानी के अनुसार खर्च करना, अधिक अथवा न्यून खर्च करने से व्यवहार में प्रामाणिकता नहीं समझी जाती। क्योंकि अधिक खर्चा करने से मनुष्य 'फूलणजी' की और न्यून खर्चा करने से 'मम्मण' की पंक्ति में गिना जाता है। अतएव कुटुम्बपोषण में, अपने उपयोग में देवपूजा और अतिथि सत्कार आदि में आवदानी प्रमाणे समयोचित द्रव्य व्यय करना चाहिये। शास्त्रकारों ने द्रव्य व्यवस्था के विषय में लिखा है कि—

'पादमायान्निधिं कुर्यात्, पादं वित्ताय घट्टयेत्।
धर्मोपभोगयोः पादं, पादं भर्त्तव्यपोषणे।।१।।'

भावार्थ—आवदानी का चतुर्थांश भंडार में रखना, चौथा भाग व्यापार में, चौथा भाग धर्म तथा उपभोग में, और चौथा भाग पोषणीय कुटुम्बवर्ग में लगाना चाहिये। अथवा—

'आयादर्धं नियुञ्जीत, धर्मे समधिकं पुनः।
शेषेण शेषं कुर्वीत, यत्नतस्तुच्छमैहिकम्।।२।।'

भावार्थ—आवदानी से आधा भाग, अथवा आधे भाग से अधिक धर्म में लगाना चाहिये, और शेष द्रव्य से सांसारिक तुच्छ (विनाशी) कार्य करना चाहिये। यदि आवदानी के प्रमाण में धर्म न करे, किन्तु संचयशील बना रहे, तो वह पुरुष कृतघ्नी है, क्योंकि जिस धर्म के प्रभाव से सुखी, धनी और मानी बनते हैं उस धर्म के निमित्त कुछ द्रव्य न खर्च किया जाय तो कृतघ्नीपन ही है। किसी कवि ने लिखा है कि—

लक्ष्मीदायादाश्चत्वारो, धर्माग्निराजतस्कराः।
ज्येष्ठपुत्रापमानेन, कुप्यन्ति बान्धवास्त्रयः।।१।।

अर्थात्—लक्ष्मी के धर्म, अग्नि, राजा और चोर ये चार दाय भागी पुत्र हैं, सब से बड़ा और माननीय पुत्र धर्म है, धर्म का अपमान होने से तीनों पुत्र कुपित हो जाते हैं, अर्थात् धर्महीन मनुष्य की

लक्ष्मी अग्नि, राजा और चोर विनाश करते हैं। इसी से शास्त्रकारों ने धर्म में चौथा भाग, आधा भाग, अथवा आधे से अधिक जितना खर्च करते बने, उतना खर्च करने के लिये ही 'समधिक' पद लिखा है।

अतः लाभार्थी पुरुषों को कृपणता छोड़कर आवदानी के अनुसार खर्च करने में उद्यत रहना चाहिये। ऐसा कौन मनुष्य है जो चञ्चल लक्ष्मी से निश्चल धर्मरत्न को प्राप्त न करे?।

१३, 'वेषं वित्तानुसारतः'—वित्त (धन) के अनुसार से वेष रखना चाहिये, जिससे संसार में प्रामाणिकता समझी जाय। जो द्रव्यानुसार पोशाक नहीं रखते वे लोक में उड़ाऊ, चोर और जार समझे जाते हैं अर्थात् लोग कहते हैं कि यह 'धनजी सेठ' बना फिरता है, तो क्या किसी को ठगकर या चोरी करके द्रव्य लाया है? अथवा किसी को ठगने के लिये बन ठन कर जाता है। इसी प्रकार द्रव्य संपत्ति रहते भी अनुचित वेष न रखना चाहिये। क्योंकि द्रव्यवान् को खराब वेष रखने से कृपणता सूचित होती है, अतएव द्रव्य के अनुसार उचित पोशाक रखने वाला पुरुष लोक मान्य गिना जाता है और लोक मान्यता धर्मसाधन में सहायभूत होती है।

१४, 'अष्टभिर्धीगणैर्युक्तः, शृण्वानो धर्ममन्वहम्।' अर्थात् बुद्धि के आठगुणों से युक्त मनुष्य निरन्तर धर्मश्रवण करता हुआ गुणवान् होने के योग्य होता है। धर्मश्रवण से आधि, व्याधि और उपाधि मिटती है, अभिनव पदार्थों का ज्ञान होता है, सुन्दर सद्विचारों का मार्ग दीख पड़ता है, कषाय भाव कम होता है और वैराग्यमहारत्न की प्राप्ति होती है। धर्मश्रवण में बुद्धि के आठ गुण होना आवश्यकीय है अन्यथा धर्मश्रवणमात्र से कुछ फायदा नहीं हो सकता।

यथा—कोई एक पुराणी रामायण वाँच रहा था उसमें 'सीताजी हरण भया' यह अधिकार आया। सभा उपस्थित एक श्रोता ने विचारा कि सीताजी हरण तो हो गये, परन्तु पीछे सीताजी होंगे या नहीं?। कथा तो समाप्त हो गई परन्तु उस श्रोता की शंका का समाधान नहीं हो सका, तब उसने पुराणी से पूछा कि महाराज! सब बात का तो खुलासा हुआ, किन्तु एक बात रह गई। पुराणी भ्रम में पड़ा कि क्या पत्रा फेर फार हो गया, या कोई अधिकार भूल गया अथवा हुआ क्या? जिससे श्रोता कहता है कि एक बात रह गई।

आखिर पुराणी ने पूछा कि भाई कौनसी बात रह गई। श्रोता ने कहा कि महाराज! 'सीताजी हरण भया' ऐसा मैंने सुना था वह मिटकर पीछे सीताजी हुए या नहीं?। पुराणी तो उसकी बात सुनकर हँसने लगा और कहा कि अरे मूर्ख! तू इसका तात्पर्य नहीं समझा, इसका आशय यह है कि सीता को रावण उठा ले गया। परन्तु तू समझता है वैसा कोई जंगली जानवर नहीं हुआ। इस बात को सुनकर श्रोता निःसंशय हो गया, यदि वह फिर पूछकर खुलाशा नहीं करता तो इस विषय में दूसरों के साथ में तकरार किये बिना नहीं रहता। इसी से धर्मश्रवण में बुद्धि के आठ गुणों की आवश्यकता है। बुद्धि के आठ गुण इस प्रकार हैं—

शुश्रूषा श्रवणं चैव, ग्रहणं धारणं तथा।
ऊहापोहार्थविज्ञानं, तत्वज्ञानं च धीगुणाः ।।२।।

भावार्थ—(शुश्रूषा) सुनने की इच्छा १ (श्रवणं) सुनना, २ (ग्रहणं) सुने हुए अर्थ को धारण करना, ३ (धारणं) धारण किये हुए अर्थ को नहीं भूलना, ४ (ऊहा) जाने हुए अर्थ को अवलम्बनकर उसके समान अन्य विषय में व्याप्ति के द्वारा तर्क करना, ५ (अपोह) अनुभव और युक्तियों से विरुद्ध हिंसादि अनर्थ-जनक कार्यों से अलग होना, ६ अथवा सामान्य ज्ञान सो 'ऊहा' और विशेषज्ञान सो 'अपोह' कहाता है। (अर्थ विज्ञानं) तर्क वितर्क के बल से मोह, सन्देह तथा विपर्यास रहित वस्तु की पहिचान करना, ७ (तत्वज्ञानं) अमुक वस्तु इसी प्रकार है, ऐसा निश्चय करना; ये आठ बुद्धि के गुण हैं।

अष्टगुणों से जिसकी बुद्धि प्रौढ़भाव को प्राप्त हुई है वह कदापि अकल्याणकारी नहीं बन सकता; इसी से बुद्धिगुण पूर्वक धर्मश्रवण करने वाला पुरुष धर्म के लायक कहा गया है। यहाँ धर्म श्रवण विशेष गुणों का दायक है, बुद्धि के गुणों में जो 'श्रवण' गुण है वह श्रवणमात्र अर्थ का बोधक है, इससे एकता का शंसय करना उचित नहीं है। धर्मश्रवण करने वालों को अनेक गुण प्राप्त होते हैं। कहा भी है कि—'यथावस्थित सुभाषितवाला मन दुःख को नष्ट करता है, खेद रूप दावानल से संतप्त पुरुषों को शान्त बनाता है, मूर्खों को बोध देता है और व्याकुलता को मिटाता है अर्थात् सुन्दर धर्मश्रवण उत्तमोत्तम वस्तुओं को देने वाला होता है। अतएव अनेक सद्गुणों की

प्राप्ति का हेतुभूत धर्मश्रवण करना चाहिये, जिससे उभय लोक में सुख प्राप्त हो।

'अजीर्णे भोजनत्यागी, काले भोक्ता च सात्म्यतः।
अन्योन्याप्रतिबन्धेन, त्रिवर्गमपि साधयेत् ।।६।।'

भावार्थ—१५, अजीर्ण में भोजन छोड़नेवाला पुरुष सुखी रहता है और सुखी मनुष्य धर्म की साधना भले प्रकार कर सकता है। इसी से व्यवहारनय का आश्रय लेकर कई एक लोग कहते हैं कि—'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' वस्तुस्थिति के अनुसार तो ऐसा कहना उचित है कि—'शरीरमाद्यं खलु पापसाधनम्' अर्थात् शरीर प्रथम पाप का कारण है। जिनके शरीर नहीं है उनके पाप का भी बन्ध नहीं होता, सिद्धभगवान् अशरीरी होने से पापबन्ध रहित हैं, अतएव शरीर पाप का कारण और पाप शरीर का कारण है।

जहाँ शरीर का अभाव है, वहाँ पाप का अभाव है और जहाँ पाप का अभाव है वहाँ शरीर का अभाव है। इस प्रकार अन्वयव्यतिरेक व्याप्ति है, तो भी व्यवहारदृष्टि का अवलम्बन कर शरीर को प्रथम धर्मसाधन माना है। इसीलिये अजीर्ण में भोजन का त्याग बताया गया है। वैदिक शास्त्रों में लिखा भी है कि—'अजीर्णप्रभावाः रोगाः' समस्त रोगों की उत्पत्ति अजीर्ण से होती है। यदि कोई ऐसा कहेगा कि—'धातुक्षयप्रभवाः रोगाः' ऐसा भी शास्त्रों में लिखा देख पड़ता है तो इनमें प्रमाणिक रूप से कौनसा वचन मान्य है? इसके उत्तर में जानना चाहिये कि धातु क्षय भी अजीर्ण से ही होता है। जो खाये हुए अन्नादि की परिपाकदशा पूर्ण रूप से हो जाय तो धातुक्षय नहीं हो सकता, चाहे जितना परिश्रम किया जाय परन्तु शरीर निर्बलता अंशमात्र नहीं हो सकती। जो अजीर्ण होने पर भी लालच से खाते हैं वे अपने सुखमय जीवन को नष्ट करते हैं। अजीर्ण की परीक्षा करने के लिये शास्त्रों में इस प्रकार लिखा है कि—

मलवातयोर्विगन्धो, विड्भेदो गात्रगोरवमरुच्यम्।
अविशुद्धश्चोद्गारः, षडजीर्णव्यक्तलिङ्गानि ।।१।।

भावार्थ—१६, मल और वायु में दुर्गन्धि हो जाना, दस्त (पाखाने) में नित्य के नियम से कुछ फेरफार हो जाना, शरीर में

आलश आना, पेट का फूलना, भोजन में रुचि कम होना और गन्धीलि डकार आना; अजीर्ण होने के ये छे चिह्न स्पष्ट होते हैं।

उक्त छः कारणों में से यदि एक भी कारण मालूम पड़े तो भोजन अवश्य छोड़ देना चाहिये, क्योंकि ऐसे अवसरों पर भोजन छोड़ने से जठराग्नि के विकार भस्म होते हैं। धर्मशास्त्र भी पखवाड़े में एक उपवास करने की सूचना करते हैं। यदि भोजनादि व्यवस्था नियम से की जाय तो प्रायः प्रकृति विकृति के कारण रोग होना असंभव है। कर्मजन्य रोगों को मिटाने के लिये तो कोई उपाय ही नहीं है। वर्त्तमान समय में कई एक मनुष्य उपवास की जगह जुलाब लेना ठीक समझते हैं; लेकिन यथार्थ विचार किया जाय तो जुलाव लेना उभयलोक में हानिकारक है। जुलाब लेने से प्रकृति में फेरफार होता है, किसी किसी वख्त तो वायु प्रकोप हो जाने से जुलाब से भारी हानि पहुंचती है, और शरीर स्थित कृमी का नाश होता है, इत्यादि कारणों से जुलाब उभयलोक में दुःखदायक है।

उपवास, पखवाड़े में खाये हुए अन्न को पचाता है, मन को निर्मल रखता है, विकारों को मन्द करता है, अन्नपर रुचि बढ़ाता है और रोगों का नाश करता है। अतएव जुलाब की अपेक्षा उपवास करना उत्तम है। अजीर्ण न हो तो भी थोड़ा भोजन करना अच्छा है क्योंकि यथाग्नि खाने से भोजन रस वीर्य का उत्पादक होता है। 'यो मितं भुङ्क्ते स बहु भुङ्क्ते' अर्थात् जो थोड़ा खाता है वह बहुत खाता है, इसलिये अजीर्ण में भोजन नहीं करने वाला सुखी रहकर गुणवान् बनता है।

१७, काले भोक्ता च सात्म्यतः—अर्थात् प्रकृति के अनुकूल यथा समय सात्म्य भोजन करने वाला पुरुष निरोगी रहकर गुणी और धर्मात्मा बनता है। जो पान, आहार आदि प्रकृति के अनुकूल सुख के लिये बनाया जाता है वह 'सात्म्य' कहलाता है। बलवान् पुरुषों के लिये तो सब पथ्य ही है परन्तु योग्य रीत से योग्य समय में प्रकृति योग्य पदार्थों का सेवन किया जाय तो शरीर की स्वास्थ्यता सचवा सकती है और शरीर स्वस्थता से धर्मसाधन तथा सद्गुणोपार्जन में किसी तरह की बाधा नहीं पड़ सकती।

१८, 'अन्योन्याप्रतिबन्धेन, त्रिवर्गमपि साधयेत्।' अर्थात् परस्पर विरोधरहितपने धर्म अर्थ और कामरूप—त्रिवर्ग की साधना

करने वाला पुरुष उत्तम योग्यता प्राप्त कर सकता है। जिस पुरुष के दिन त्रिवर्गशून्य व्यतीत होते हैं वह लुहार की धमनी की तरह गमनागमन करता हुआ भी जीता नहीं है अर्थात् उसे जीवन्मृत अथवा पशुतुल्य समझना चाहिये।

धर्म पुण्यलक्षण अथवा संज्ञानरूप है, पुण्यलक्षण धर्म संज्ञानलक्षण धर्म का कारण है, कार्य को उत्पन्न कर, कारण चाहे पृथक् हो जाय, परन्तु धर्म सात कुल को पवित्र करता है। कहा भी है कि—

'धर्मः श्रुतोऽपि दृष्टो वा, कृतो वा कारितोऽपि वा।
अनुमोदितोऽपि राजेन्द्र! पुनात्याऽऽसप्तं कुलम्॥१॥'

तात्पर्य—हे राजेन्द्र! सुना हुआ, देखा हुआ, किया हुआ, कराया हुआ और अनुमोदन किया हुआ धर्म, सात कुल को पवित्र बनाता है। धर्म धन, काम और मुक्ति का देने वाला है, ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो धर्म के प्रभाव से प्राप्त न हो सके; अतएव तीनों वर्ग में धर्म अग्रगण्य (मुख्य) समझा जाता है।

यहाँ पर यह संशय होना संभव है कि वारंवार त्रिवर्ग का ही नाम आता है किन्तु चौथा वर्ग मोक्ष या निर्वाण का तो नाम ही नहीं लिया जाता, तो क्या आप मोक्ष को नहीं मानते?।

इसके समाधान में समझना चाहिए कि मोक्ष, निर्वाण अथवा मुक्ति आदि नाम से प्रख्यात चतुर्थ वर्ग के साधक मुनिवर हैं, और यहाँ प्रस्तुत विषय तो गृहस्थों को धर्म की योग्यता प्राप्त कराने का है, इसी से यहाँ पर मोक्ष का नाम दृष्टिपथ नहीं होता। जैन सिद्धान्तों में जितनी क्रिया प्रतिपादन की गई हैं वह सब मोक्षसाधक हैं, स्वर्गादिक तो उसके अवान्तर फल हैं। जैसे कोई मनुष्य किसी शहर का उद्देश्य करके रवाना हुआ, परन्तु वह इच्छित शहर में नहीं पहुँचने से मार्ग स्थित गाँव में रह गया। इसी प्रकार मोक्ष साधक मनुष्य भी मार्गभूत स्वर्गादि गतियों में जाता है। जिन लोगों के सिद्धान्त में मोक्ष साधक अनुष्ठान नहीं है उनको अवश्य नास्तिक समझना चाहिए। मोक्ष का कारण सम्यग् ज्ञान, दर्शन और चारित्र है, इनको प्राप्त करने के लिए प्रथम योग्यता प्राप्त करने की आवश्यकता है। योग्यता का कारण भूत धर्म, अर्थ और काम रूप

त्रिवर्ग की साधना है, अतएव गृहस्थों के लिए त्रिवर्ग के साथ मोक्ष शब्द रखने की कोई आवश्यकता नहीं है। अब परस्पर अविरोधपन त्रिवर्ग को साधन करने की मर्यादा दिखाई जाती है—

जो अहर्निश धर्म और अर्थ को छोड़कर कामपुरुषार्थ की ही साधना करने में लगे रहते हैं वे वनगज के समान पराधीन हो दुःखी होते हैं। जैसे वनगज स्वजीवित को हरा कर मरण दशा को प्राप्त होता है, उसी प्रकार कामाऽसक्त मनुष्य का भी धर्म, धन और शरीर नष्ट हो जाता है, इसलिए केवल कामसेवा करना अनुचित है।

जो मनुष्य धर्म तथा काम का अनादर कर केवल अर्थ-सेवा की अभिलाषा रखते हैं, वे सिंह के समान पाप के भागी होते हैं। सिंह हस्तिप्रमुख पशुओं को मारकर स्वयं थोड़ा खाता है और अवशेष दूसरों के लिए छोड़ देता है। इसी तरह अर्थसाधक पुरुष भी अठारह पापस्थानक सेवनकर वित्तोपार्जन करते हैं, उसको स्वयं अल्प खाकर शेष संबंधियों के लिए छोड़ते हैं, किन्तु स्वयं उस वित्तोपार्जन से दुर्गतियों के पात्र बनते हैं। अत एव केवल अर्थसेवा करना भी अनुचित है। इसी प्रकार अर्थ और काम को छोड़कर केवल धर्मसेवा करने से भी गृहस्थ धर्म का अभाव होता है, क्योंकि केवल धर्मसेवा करना मुमुक्षुजनों (संसार त्यागियों) का काम है, यहाँ पर तो गृहस्थों का अधिकार है, इससे केवल धर्मसेवा करना गृहस्थों के लिए अनुचित है।

जो लोग धर्म को छोड़कर अर्थ और काम की सेवा करते हैं वे बीज खा जाने वाले 'कणवी' के समान पश्चात्ताप और दुःख के पात्र बनते हैं। किसी कणवी ने अत्यन्त परिश्रम से धान्य (बीज) संग्रह कर उस को खा खुटाया, परन्तु वर्षा समय में खेत में बीज नहीं बो सका, इससे धान्य का अभाव हो गया और धान्याभाव से नाना दुःखों की नोबत बनने लगी। उसी प्रकार धर्म के बिना अर्थ और काम की सेवा करने वालों की दशा होती है। क्योंकि धर्म अर्थ और काम का बीज है, अर्थात् धर्म के प्रभाव से ही अर्थ व काम की प्राप्ति होती है। अतएव धर्म की सेवा किये बिना इतर पुरुषार्थों की सेवा करने वाला कणवी के समान दुःखी होता है।

यदि कहा जाय कि धर्म और काम की सेवा करना तो ठीक है, लेकिन अर्थ अनेक अनर्थों का उत्पादक है, इसलिए अर्थ की सेवा करना अनुचित है?, धर्म से परभव का सुधार और काम से सांसारिक सुखों का अनुभव होता है।

इसके समाधान में हम इतना ही कहना चाहते हैं कि—गृहस्थावास में अर्थ (धन) के सिवाय धर्म और काम की सेवा यथार्थ रूप से नहीं बन सकती, क्योंकि धनोपार्जन नहीं करने से ऋणी होना पड़ता है। और ऋणी मनुष्य चिंतायुक्त होने से देव गुरु की भक्ति नहीं कर सकता, तथा चिन्तायुक्त मनुष्य से सांसारिक सुखों का भी अनुभव नहीं हो सकता। अत एव धर्म और काम सेवा के साथ-साथ अर्थ सेवा की भी अत्यन्त आवश्यकता है।

यदि कोई यह कहेगा कि धर्म और अर्थ की सेवा करने वाला ऋणी नहीं होता, अतः धर्म तथा अर्थ की सेवा करना चाहिए परन्तु दुर्गतिदायक काम की सेवा क्यों की जाय? काम से तो करोड़ों कोश दूर ही रहना उत्तम है?।

यह बात प्रशस्य है, तथापि यहाँ गृहस्थ-धर्म का विषय है इसलिए काम के अभाव में गृहस्थाऽभावरूप आपत्ति आ पड़ने की संभावना है। इस वास्ते तीनों वर्ग की योग्य रीति से सेवा करने वाला मनुष्य धर्म के लायक होता है। और वही मनुष्य सद्गुणी बनकर आत्मसुधार, तथा समाजसुधार कर सकता है।

पाठकगण! धर्म, अर्थ और काम में बाधा पड़ने की संभावना हो तो पूर्व में बाधा न होने देना चाहिए। कदाचित् कर्मवश से चालीस वर्ष की अवस्था में स्त्री की मृत्यु हो जाय तो फिर विवाह करने में व्यवहारविरुद्ध और शास्त्रविरुद्ध है, इससे ऐसे अवसर में चतुर्थव्रत धारण कर धर्म और अर्थ की सुरक्षा करना चाहिए। यदि स्त्री धन दोनों का नाश होने का समय प्राप्त हुआ तो केवल धर्म की साधना करने में दत्तचित्त रहना चाहिए। क्योंकि 'धर्मवित्तास्तु साधवः' सज्जन पुरुष धर्मरूप द्रव्यवाले होते हैं।

धर्म के प्रभाव से धन चाहने वालों को धन, कामार्थियों को काम, सौभाग्य के चाहने वालों को सौभाग्य, पुत्रवांछकों को पुत्र, और राज्य के अभिलाषियों को राज्य प्राप्त होता है। अर्थात् धर्मात्मा

पुरुष जो कुछ भी चाहे उसे उसकी प्राप्ति अवश्य होती है। स्वर्ग और मोक्ष भी जब धर्म के प्रभाव से मिल सकता है तब और वस्तुओं की प्राप्ति हो इसमें आश्चर्य ही क्या है? अत एव गृहस्थों को उचित है कि धर्म के समय में धर्म, धन के समय में धनोपार्जन, और काम सेवन के समय में काम इस प्रकार यथाक्रम और यथासमय में सेवन करें, परन्तु परस्पर बाधा हो वैसा होना ठीक नहीं।

'यथावदतिथौ साधौ, दीने च प्रतिपत्तिकृत्।
सदाऽनभिनिविष्टश्च, पक्षपाती गुणेषु च।।७।।'

भावार्थ—१६, अतिथि, साधु और दीन में यथायोग्य भक्ति करने वाला गुणी बनने लायक होता है। जिन्होंने तिथि और दीपोत्सवादि पर्व का त्याग किया है उन को अतिथि और दूसरों को अभ्यागत कहना चाहिए। 'साधुः सदाचाररतः' उत्तम पञ्च महाव्रतपालनरूप सदाचार में लीन रहते हैं वे 'साधु' और त्रिवर्ग को साधन करने में जो असमर्थ हैं वे 'दीन' कहे जाते हैं। इन तीनों की उचितता पूर्वक भक्ति करना चाहिए, अन्यथा—अधर्म होने की संभावना है, क्योंकि पात्र को कुपात्र और कुपात्र को पात्र की पङ्क्ति में गिनने से अधर्म की उत्पत्ति होती है। नीतिकारों का कहना है कि—

नीतिरूप काँटा है उसके एक पलड़े में औचित्य (उचितता) और दूसरे पलड़े में क्रोड़गुण रक्खे जाँय तो उचिततावाला पलड़ा नीचा नमेगा अर्थात् क्रोड़गुण से भी उचितता अधिक है, अत एव उचितता प्रमाणे भक्ति करना उत्तम है।

२०, 'सदाऽनभिनिविष्टश्च'—निरन्तर आग्रह नहीं रखने वाला पुरुष गुण ग्रहण करने योग्य होता है। आग्रही मनुष्य स्वमति कल्पना के अनुसार युक्तियों को खींचता है और अनाग्रही पुरुष सुयुक्तियों के अनुसार स्वमति (बुद्धि) को स्थापित करता है। जगत में सुयुक्तियों से कुयुक्ति अधिक हैं, कुयुक्तिसंपन्न मनुष्य अपरिमित हैं परन्तु सुयुक्ति संपन्न तो विरले ही हैं। जहाँ आग्रह नहीं होता वहाँ सुयुक्तियों का आदर होता है, इस वास्ते गुणेच्छुओं को नित्य आग्रह रहित रहना चाहिए जिससे सद्गुणों की प्राप्ति हो।

२१, 'पक्षपाती गुणेषु च'—गुणों में पक्षपात रखने वाला पुरुष उत्तम गुणोपार्जन कर सकता है अर्थात् सौजन्य, औदार्य, दाक्षिण्य,

स्थैर्य, प्रियभाषण और परोपकार आदि स्वपरहितकारक और आत्मसाधन में सहायक जो गुण हैं उनमें पक्षपात, उनका बहुमान तथा उनकी प्रशंसा करना वह 'गुणपक्षपात' कहा जाता है। गुणों का पक्षपात करने वाले मनुष्यों को भवान्तर में मनोहर गुणों की प्राप्ति होती है। गुणद्वेषियों को किसी गुण की प्राप्ति नहीं होती, कई एक स्वात्मवैरी गुणवानों के गुणों पर द्वेषभाव रखते हैं और इसी से उन्हें अनर्थजनक अनेक कर्म बाँधना पड़ते हैं। अत एव किसी समय गुणद्वेषी न होना चाहिए, किन्तु समस्त जगज्जन्तुओं के गुणों की अनुमोदना करना चाहिए।

अदेशकालयोश्चर्यां, त्यजेज्जानन् बलाबलम्।
वृतस्थज्ञानवृद्धानां, पूजकः पोष्यपोषकः ।।८।।

भावार्थ—२२, निषेध किये हुए देश और काल की मर्यादा का त्याग करने वाला पुरुष गुणी बनने और गृहस्थ धर्म के योग्य होता है। निषिद्ध देश में जाने से एक लाभ और अनेक हानियाँ हैं, लाभ तो धनोपार्जन है और धर्म की हानी, व्यवहारनिःशूकता तथा हृदयनिष्ठुरता आदि अनेक दुर्गुण प्राप्त हो जाते हैं। आर्य देश को छोड़ कर अनार्यभूमि में जाने वाले पुरुषों का प्रथम धार्मिक मनुष्यों से समागम नहीं होता। निरन्तर प्रत्यक्ष प्रमाण को मानने वाले अर्वाक्दर्शी और मांसाशी पुरुषों का समागम होता रहता है जिससे नास्तिक बुद्धि, अथवा अधर्मश्रद्धा उत्पन्न होती है। गङ्गा का जल मिष्ट स्वादु और पवित्र माना जाता है परन्तु समुद्र में मिलने पर वह खारा हो जाता है इसी प्रकार विदेश के गमन समय में पुरुष धार्मिक, सरलस्वभावी और दृढ़ मनवाला होता है लेकिन धीरे-धीरे विदेशी लोगों की संगत से उसके स्वभाव में मलिनता आ जाती है।

कोई यह कहेगा कि सांसारिक कार्य के लिये जाने वाला पुरुष गंगाजल की दशा को प्राप्त हो सकता है परन्तु कोई दृढ़धर्मी जगत्मान्य मनुष्य आर्यधर्म के तत्त्वों का प्रचार करने के लिए जाय तो क्या परेशानी है?

इसका उत्तर यह है कि सर्पमणि के समान जो पूर्ण (जानकार) हैं उनके वास्ते कोई प्रतिबन्ध नहीं है, पूर्ण मनुष्य चाहे जहाँ जा सकता है। सर्प और मणि का एक ही स्थान में जन्म तथा विनाश

होता है अर्थात् साथ ही जन्म और विलय है परन्तु सर्प का विष मणि में और मणि का अमृत सर्प में नहीं आ सकता, क्योंकि दोनों अपने २ विषय में पूर्ण हैं। इस प्रकार मनुष्य जो पूर्ण हो तो वह चाहे जिस देश में जा सकता है उसका विग्रह कहीं नहीं हो सकता, लेकिन अपूर्ण तो सर्वत्र अपूर्ण ही रहता है।

अपूर्ण का उत्साह क्षणिक और विचार निश्वर होता है तथा उसके हृदय में धर्म वासना हल्दी के रंग के समान होती है। आर्य-भूमि में हजारों प्राणी जंगली हैं उनको विदेशी प्रजा धन, स्त्री आदि का लालच देकर स्वधर्मी बना रही है इसलिए उनको धर्मभ्रष्टता से उबारना हर एक आर्यधर्मी पुरुषों का काम है। अर्हन्नीति में विदेशगमन का निषेध किया है उसका खास हेतु धर्महानी ही है। अत एव पूर्ण मनुष्य के बिना अपूर्ण मनुष्यों को निषिद्ध देश में भूल कर भी नहीं जाना चाहिए। बुद्धिमानों को निषिद्धकाल की मर्यादा का भी त्याग करना जरूरी है, क्योंकि रात्रि का समय कितने एक पुरुषों के लिए बाहर फिरने का नहीं है। अर्थात् रात्रि में बाहर फिरने से कलङ्कित होने की तथा चौरादिक की शंका पड़ती है। चौमासे में प्रवास या यात्रा भी नहीं करनी चाहिए, इस मर्यादा का उल्लंघन करने से अनेक उपद्रव और हिंसादिक की वृद्धि होती है। इससे निषिद्धदेश व काल की मर्यादा का त्याग करने वाला मनुष्य सुखी होता है।

२३, 'जानन् बलाबलं' : स्व पर का बल और अबल जानने वाला गृहस्थ धर्म के लायक है। बल की परीक्षा किये बिना कार्य का प्रारंभ करना निष्फल है और जो बल तथा अबल का ज्ञानकर कार्य करते हैं उनका कार्य सफल होता है। बलवान् व्यायाम करे तो उसका शरीर पुष्ट होता है और निर्बल मनुष्य व्यायाम करेगा तो उसकी शरीर संपत्ति का नाश होता है। क्योंकि शरीरशक्ति के उपरान्त परिश्रम करने से शरीराऽवयवों को नुकसान पहुँचता है, अत एव बल के प्रमाण में कार्यारम्भ करना चाहिये, जिससे चित्तव्याकुलता न हो सके और स्वच्छचित्त से सद्गुण प्राप्ति हो।

२४, व्रतस्थज्ञानवृद्धानां पूजक : व्रती और ज्ञानवृद्ध पुरुषों की सेवा करने वाला गुणी बनता है। अनाचार त्याग और सदाचार

का पालन करने में जो स्थित है वह 'व्रतस्थ' और जो हेय उपादेय वस्तुओं का निश्चय करने वाले ज्ञान से संयुक्त हो वह 'ज्ञानवृद्ध' कहलाता है। इन दोनों की सेवा कल्पवृक्ष के समान महाफल को देने वाली होती है, व्रतीपुरुषों की सेवा से व्रत का उदय, और ज्ञानवृद्धों की सेवा से वस्तुधर्म का परिचय होता है। इसलिये व्रती और ज्ञानवृद्धों का वन्दन करना, तथा उन के आने पर (अभ्युत्थान) खड़े होना, आदि बहुमान करना चाहिए।

२५, पोष्यपोषक : पोषण करने योग्य माता, पिता, भाई, बहिन, स्त्री, पुत्र आदि परिवार को योगक्षेम से अर्थात् अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति और प्राप्त वस्तु की रक्षा करता हुआ पोषण करना चाहिये, जिससे कि लोक-व्यवहार में बाधा न पड़े, क्योंकि लोक-व्यवहार की बाधा धर्मसाधन में विघ्नभूत है, अतएव पोषण करने के लायक को पोषण करने वाला मनुष्य सद्गुणी बनता है।

'दीर्घदर्शी विशेषज्ञः, कृतज्ञो लोकवल्लभः ।
सलज्जः सदयः सौम्यः, परोपकृति कर्मठः ।।६।।'

२६, दीर्घदर्शी : अर्थ, अनर्थ दोनों का विचार करने वाला मनुष्य दीर्घदर्शी कहा जाता है। दीर्घ विचार करने वाला मनुष्य हर एक कार्य को विचारपूर्वक करता है, किन्तु सहसा नहीं करता। कहा भी है कि—

सहसा विदधीत न क्रिया-भविवेकः परमाऽऽपदां पदम् ।
वृणते हि विमृश्य कारिणं, गुणलुब्धाः स्वयंमेव संपदः।।१।।

तात्पर्य—बिना विचार किये किसी क्रिया को न करे, अविवेक पूर्वक की हुई क्रिया परम आपत्ति की स्थानभूत होती है। विचार पूर्वक कार्य करने वालों को गुण में लुब्ध हुईं अर्थात् गुणाभिलाषिणी संपत्तियाँ स्वयमेव वरण करती हैं, अर्थात् उसके समीप में चली आती हैं। दीर्घदर्शी पुरुषों में भूत, भविष्यत् काल का विचार करने की शक्ति होती है। अर्थात् अमुक कार्य करने से हानि और अमुक कार्य करने से लाभ होना संभव है इस प्रकार विचार करने वाला सफल कार्य ही सुखी और गुणी होता है।

२७, विशेषज्ञ—वस्तु अवस्तु कृत्य, अकृत्य, आत्मा और पर में क्या अन्तर है ? उसको जानने वाला। अथवा आत्मा के गुण व

दोष को पहचानने वाला 'विशेषज्ञ' कहलाता है। जिस मनुष्य में अपने वर्त्ताव और गुण दोष पर दृष्टि देने की शक्ति नहीं है वह पशु समान ही है, उसे आगे बढ़ने की आशा रखना आकाशकुसुमवत् असम्भव है। जो गुण व दोष आदि को नहीं पहिचानते उनका निस्तार इस संसार से होना असंभव है, अतएव विशेषज्ञ मनुष्य गृहस्थधर्म और गुणग्रहण करने योग्य है।

२८, कृतज्ञः—किये हुए उपकारों को जाननेवाला पुरुष अनेक सद्‌गुण प्राप्त कर सकता है और जो उपकारों को भूल जाता है अथवा गुण लिये बाद उपकारी पर मत्सर धारण करता है उसमें फिर गुणवृद्धी नहीं हो सकती, और सीखे हुए गुण प्रतिदिन मलीन हो जाते हैं अतएव उत्तमता की सीढ़ी पर चढ़ने वालों को कृतज्ञ हो गुण ग्रहण करने में निरन्तर प्रयत्न करना चाहिये।

२९, लोकवल्लभः—विनय, विवेक आदि सद्‌गुणों से प्रामाणिक लोकों को प्रियकर होने वाला पुरुष उत्तमगुणों का संग्रह कर सकता है। यहाँ पर लोक शब्द से सामान्य लोक नहीं समझना चाहिये, सामान्यलोकों का प्रायः कोई वल्लभ नहीं होता, क्योंकि दुनिया दो रंगी है—धर्म करने वालों की भी निन्दा, और न करने वालों की भी निन्दा करती है, कार्य करने वालों में दोष निकालती है, और नहीं करने वालों को आलसी, अथवा हतवीर्य कहती है। इसी से किसी बुद्धिमान ने कहा है कि 'लोक मूके, पोक, तूं तेरा संभाल' अर्थात् लोक चाहे सो कहता रहे परन्तु तुझे तेरा (अपना) कार्य संभाल लेना चाहिये। इस लोकोक्ति में लोक शब्द से सामान्य लोक का ग्रहण किया है, परन्तु 'लोकवल्लभः' यहाँ तो लोक शब्द से प्रामाणिक लोक ही जानना चाहिये।

३०, सलज्ज :—लज्जावान् पुरुष अंगीकार किये हुए नियमों को प्राण नष्ट होने पर भी नहीं छोड़ता, इसी से 'दशवैकालिक-सूत्र' लज्जा शब्द से संजम का ग्रहण किया गया है। संजम का कारण लज्जा है, अतएव कारण में कार्योपचार करने से लज्जा संजम गिना जाता है। लज्जावान् पुरुषों की गिनती उत्तमपुरुषों की पंक्ति में होती है, *किन्तु निर्लज्जों की नहीं होती। लज्जा गुण को धारण करने वाले* अग्नि में प्रवेश करना, अरण्यवास करना और भिक्षा से जीना अच्छा

समझते हैं, लेकिन प्रतिज्ञाभ्रष्ट होना ठीक नहीं समझते। अतएव लज्जावान् मनुष्य गुणवान बनने के योग्य और धर्म के भी योग्य कहा हुआ है।

३१, सदय :—दुःखी जीवों को दुःख से बचाना अर्थात् सुखी करना, ऐसे गुण वाला पुरुष धर्म के योग्य होता है। दया के बिना कोई पुरुष धर्म के लायक नहीं हो सकता। दुःखित जीवों को देखकर जिसका अन्तःकरण दयार्द्र नहीं होता वह अन्तःकरण नहीं है, किन्तु अन्तःकरण (नाशकारक) है। धर्म के निमित्त पञ्चेन्द्रिय जीवों का बध करने वाला धर्म के लायक होना कठिन है, दयावान् पुरुष ही दान पुण्य आदि सुकृत कार्य भले प्रकार कर सकता है। सब दानों में दयादान बड़ा है, जो एक जीव की रक्षा करता है वह भी सदा के लिये निर्भय हो जाता है, तो सब जीवों की रक्षा करनेवालों की तो बात ही क्या कहना है? इसलिये मनुष्यों को निरन्तर सद्हृदय रहना चाहिये, दयादान देने वाला भवान्तर में सुखी रहता है। सुमेरु पर्वत के बराबर सुवर्णदान से, संपूर्ण पृथिवी के दान से और कोटि गोदान से जितना फल होता है उतना फल एक जीव की रक्षा करने से होता है, इससे गुणाभिलाषिओं को उचित है कि दयालुस्वभाव हो प्राणिमात्र को सुखी बनाने का प्रयत्न करें।

३२, सौम्य—शान्त प्रकृतिवाला पुरुष हर एक सद्‌गुण को सुगमता से प्राप्त करता है। इसी गुण से पुरुष सब को प्रिय लगता है और इसी से उसको सब कोई उत्तम और रहस्यपूर्ण गुण सिखाने में कसर नहीं करते हैं। क्रूरस्वभावी पुरुषों को कोई कुछ नहीं सिखलाता और न उससे कोई मित्रता ही रखता है। इसलिये उत्तमता की सीढ़ी पर चढ़ने वालों को निरन्तर शान्तस्वभाव ही रहना चाहिये। क्योंकि शान्तस्वभाव वाले पुरुषों के पास हिंसक जन्तु भी वैर भाव छोड़कर विचरते हैं अर्थात् गौ और सिंह आदि भी साथ ही सहवास करते हैं।

३३, परोपकृति कर्मठः—परोपकार में दृढ़ वीर्य (तत्पर) मनुष्य संसारगत मनुष्यों के नेत्रों में अमृत के समान देखता है, और परोपकार रहित पुरुष विष के समान जान पड़ता है। मनुष्य शरीर के अवयव दूसरे जीवों की तुलना में किसी काम में नहीं आते, इससे असार शरीर से परोपकारादि सार निकाल लेना ही प्रशस्य है।

क्योंकि परोपकार धर्म का पिता है, और धर्म से बढ़कर संसार में कोई सार पदार्थ नहीं है। प्रसंगप्राप्त यहाँ पर परोपकार की पुष्टि के लिये एक दृष्टान्त लिखा जाता है, आशा है कि पाठकों को वह अवश्य रुचिकर होगा।

राजा भोज के दरबार में एक समय पंडितों की सभा हुई, उसमें साहित्य विधा में प्रवीण और शास्त्रपारंगत अनेक नामी-गरामी विद्वान उपस्थित हुए। उस सुरम्य सभा में राजा भोज ने पूछा कि विद्वानो! कहो कि धर्म का पिता कौन है? इस प्रश्न के उत्तर में पंडितों में नाना भाँति के विकल्प खड़े हो गये। किसी ने कहा कि—धर्म नाम युधिष्ठिर का है, इससे उसका पिता राजा पाण्डु है। किसी ने कहा यह ठीक नहीं धर्म अनादि है इसलिये इसका पिता ईश्वर है। किसी ने कहा यह भी अनुचित है क्योंकि निरंजन निराकार ईश्वर धर्म को कैसे उत्पन्न कर सकता है?, और कई एक धर्मों में ईश्वर को उत्पादक नहीं माना जाता तो क्या उनमें धर्म नहीं है?। किसी ने कहा धर्म का पिता सत्य है, कारण कि सत्य से धर्म उत्पन्न होता है। किसी ने कहा मुझे तो यह उत्तर ठीक नहीं मालूम होता क्योंकि सत्य धर्म का उत्पादक नहीं, किन्तु अङ्ग माना गया है। इस प्रकार पंडितों में कोलाहल मच गया परन्तु सब का एक मत नहीं हुआ। तब राजा भोज ने अपने मुख्य पण्डित कालिदास से कहा कि तुमको एक महीने की अवधि दी जाती है, इसमें इस प्रश्न का उत्तर अच्छी तरह निश्चय करके देना, नहीं तो ठीक नहीं होगा।

सभा विसर्जित हुई सब पंडित भारी चिन्ता में पड़े, परन्तु कालिदास को सब से अधिक चिन्ता उत्पन्न हुई। विचार ही विचार में महीने में एक ही दिन अब शेष रह गया, कालिदास चिन्तातुर हो अरण्य में चले गये परन्तु सन्तोषकारक कोई समाधान का कारण नहीं मिला। तब अपनी इष्टदेवी काली का स्मरण कर आत्मघात करने के लिये समुद्यत हुए, इतने में आकाशवाणी प्रगट हुई कि—

'महाकवे! मा म्रियस्व, त्वं रत्नमसि भारते।
धर्मस्यैव पिता सत्यमुपकारोऽखिलप्रियः।।१।।'

हे महाकवि! मत मर, तूं इस भारतवर्ष में रत्न है, समस्त संसार को प्रिय धर्म का पिता निश्चय से उपकार है अर्थात् तूं यह निश्चय से समझले कि धर्म का पिता उपकार ही है।

इस श्लोक को सुनते ही कालिदास को असीम आनन्द हुआ, और राजाभोज को उत्तर देने के लिये आखिरी दिन सभा में हाजिर हुए। राजा के पूछने पर कालिदास ने कहा कि—महाराज! धर्म का पिता उपकार है। इस बाबत में महात्मा बुद्ध का भी अभिप्राय है कि 'दया उपकार की माता, और उपकार धर्म का पिता है। इस उपकार का प्रकाश जिसके हृदय पट पर पड़ा, वह मनुष्य दिव्यदृष्टि समझा जाता है।'

इस उत्तर को सुनकर राजा भोज अत्यानन्दित हुआ और अपने आश्रित पाँच सौ पण्डितों से सुशोभित सभा में कालिदास का बड़ा भारी सत्कार किया। इसी से कहा जाता है कि संसार में निःस्वार्थ उपकार के प्रभाव से ही मनुष्य पूज्य समझा जाता है। एक भाषाकवि ने भी लिखा है कि—

स्वार्थ बिन उपकार दिव्य गुण कहे जाय,
स्वार्थ बिन उपकार धर्म को प्रभाव है।
स्वार्थ बिन उपकार सुकृत की सुन्दर माल,
स्वार्थ बिन उपकार पूर्ण प्रेमभाव है।।
हरि हर जैन बौद्ध स्वार्थ बिन उपकार से,
जगत में पूज्य बने पूरण प्रभाव से।
ऐसे दिव्यगुण धरी रहो नित्य मगन में,
परम उपकार यश गाजे हैं गगन में ।।१।।

उपकार के विषय में आधुनिक विद्वानों ने भी लिखा है कि—'मनुष्य की श्रेष्ठता उदारता, मोटाई और नम्रता में बसी हुई है, जिनमें परोपकार गुण नहीं है उनका जीना संसार में व्यर्थ और भारभूत है'

'जिसके हृदय में उपकार वृत्ति रहती है उसके हृदय में परमेश्वर निवास करता है, जिसके हृदय में उपकारवृत्ति रूप सिंहासन रक्खा है उस पर परमेश्वर विराजमान होता है, अये पामर! अपना उपकार रूप चिलकता हीरा परमेश्वर को भेंट कर।'

'अपने पाड़ोसी को तुम देखते हो परन्तु उस पर तुम प्रेम नहीं रख सकते हो, परमेश्वर तो अदृश्य है उस पर प्रेम किस प्रकार रख सकोगे।'

'परोपकार महागुण तुम्हारे साथ है और वह मानसिक, वाचिक तथा कायिक शक्ति का उत्पादक है, इसलिये सब गुण के पहिले इसी गुण को प्राप्त करने का अभ्यास करना चाहिये।'

'उपकार महादान, उपकार देवपूजा और उपकार मन को नियम में रखने वाली उत्तम समाधि है। उपकारकर्त्ता देव, गुरु, मित्र और सब कोई को प्रिय लगता है, उपकार के बिना कोई शुभकार्य सफल नहीं होता।'

'सूर्य, चन्द्र, मेघ, वृक्ष, नदी, गौ और सज्जन ये सब इस युग में परोपकार के लिये पैदा हुए हैं। जो मनुष्य प्रेम से पूर्ण हो परोपकार रूप यज्ञ करता है, उसको हिंसामय दूसरे यज्ञ करने की कोई आवश्यकता नहीं है।'

'स्वर्ग सुख से भी परोपकारी जीवन उत्तम है, जो मनुष्य कायम परोपकार कर सकता है उसको स्वर्ग में जाने की जरूरत नहीं है। उपकार रहित मनुष्य की अपेक्षा तो पत्र पुष्प और छाया के द्वारा उपकार करने वाले वृक्ष ही श्रेष्ठ है।'

'उपकारी पुरुष का पिण्ड असली नाणा (सिक्का) के समान है, इससे वह चाहे जहाँ चला जाय उसकी कदर व कीमत होती है। खानदान कुटुम्ब का उपकार शून्य लड़का खोटे नाणा के समान है, इससे उसकी विदेश में भी कदर व कीमत नहीं होती।'

'यदि तुम्हारे हस्तगत कुबेर का भी भण्डार हो तो भी अपनी सन्तति को विद्या (हुन्नर) सिखाओ, चाँदी स्वर्ण की थैलियाँ खाली हो जाती हैं, लेकिन कारीगरी की थैली नहीं खुट सकती। जो हुन्नर होगी तो किसी की गुलामी करने का मौका नहीं आवेगा और न भिक्षा माँगना पड़ेगी।'

'जिस तरह मल को साफ करने के लिये जल, वस्त्र को साफ करने के लिये साबुन, शस्त्र को घिसने के लिये शराणी, सुवर्ण परीक्षा के लिये अग्नि और नेत्रों की सुन्दरता बढ़ाने के लिये अंजन की आवश्यकता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण कलाकौशल और संपत्ति प्राप्त करने के लिये उपकार महागुण को सीखने की आवश्यकता है।'

'जिस पुरुष को सन्मार्ग की प्राप्ति हुई हो और यदि वह यह चाहता हो कि जन्म जन्मान्तर में भी मुझे सन्मार्ग मिलता जाय, तो

उसे चाहिये कि निरन्तर परोपकार करने में तत्पर रहे। क्योंकि परोपकार करने ही से पुरुष के गुणों का उत्कर्ष होता है। यदि परोपकार सम्यक् प्रकार से किया जाय तो वह धीरता को बढ़ाता है, दीनता को कम करता है, चित्त को उदार बनाता है, उदरंभरित्व को छुड़ाता है, मन में निर्मलता लाता है और प्रभुता को प्रगट करता है। इसके पश्चात् परोपकार करने में तत्पर रहने वाले पुरुष का पराक्रम (वीर्य) प्रगट होता है, मोह कर्म नष्ट होता है और दूसरे जन्मों में भी वह क्रम से उत्तरोत्तर अधिकाधिक सुन्दर सन्मार्गों को पाता है। तथा ऊपर चढ़कर फिर कभी नीचे नहीं गिरता है, किसी की याचना की अपेक्षा नहीं करना चाहिये, अर्थात् यह नहीं सोचना चाहिये कि जब कोई हम से आकर पूछेगा, तब हम बतलावेंगे।'

अतएव परोपकार परायण मनुष्य ही धर्म के योग्य बनता है और अनेक सद्गुणों को प्राप्त कर उत्तमता की सीढ़ी पर चढ़ता है, इसलिये हर एक मनुष्य को इसी गुण का अभ्यास करने का प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि उपकार के प्रभाव से भी पुरुष उत्तमदशा को प्राप्त कर सकता है।

'अन्तरङ्गारिषड्वर्ग — परिहारपरायणः।
वशीकृतेन्द्रियग्रामो, गृही धर्माय कल्पते।१०।'

भावार्थ—३४, अन्तरङ्ग छः शत्रुओं का त्याग करने वाला पुरुष धर्म के तथा गुण ग्रहण करने के योग्य होता है, वास्तव में प्रत्येक प्राणिवर्ग के गुणों का नाश करने वाले अन्तरङ्ग शत्रु ही हैं। यदि अन्तरङ्ग शत्रु हृदय से बिलकुल निकाल दिये जायँ, तो हर एक सद्गुण की प्राप्ति सुगमता से हो सकती है। जिस ने अन्तरङ्ग शत्रुओं को पराजित कर दिया उसने सारे संसार को वश में कर लिया ऐसा मान लेना बिलकुल अनुचित नहीं है। काम से दाण्डक्य भोज, क्रोध से करालवैदेह, लोभ से अजविन्दु, मान से रावण तथा दुर्योधन, मद से हैहय तथा अर्जुन और हर्ष से वातापि तथा वृष्णिजंघ आदि को इस संसार मण्डल में अनेक दुःखों का अनुभव करना पड़ा है। अतएव अन्तरङ्ग शत्रुओं का परित्याग करने वाला मनुष्य अपूर्व और अलौकिक योग्यता का पात्र बनकर अपना और दूसरों का सुधार कर सकता है!

३५, वशीकृतेन्द्रियग्रामो, गृही धर्माय कल्पते।' अर्थात् जिसने इन्द्रिय समूह को वश कर लिया है वह पुरुष गृहस्थ धर्म के योग्य हो सकता है। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अभी धर्म की प्राप्ति तो हुई नहीं तो इन्द्रिय समूह को वशीभूत करना किस प्रकार बन सकता है, और इन्द्रियों को वश करने वाला पुरुष गृहस्थाश्रम किस तरह चला सकता है?। इसके समाधान में हम यही कहना समुचित समझते हैं कि—'वशीकृतेन्द्रियग्रामः' इस वाक्य का अर्थ इस तरह करना चाहिये कि जिसने इन्द्रियसमूह को मर्यादीभूत किया है, क्योंकि इन्द्रियों का सर्वथा परित्याग तो मुनिराज ही कर सकते हैं, परन्तु मर्यादीभूत अर्थ करने से गृहस्थों के लिये किसी तरह बाधा नहीं रह सकती। धर्मप्राप्ति के पूर्व मनुष्य स्वभाव से ही मर्यादावर्त्ती दीख पड़ता है, और धर्मप्राप्त होने के बाद भी मर्यादा पूर्वक ही विषयादि का सेवन करना शास्त्रकारों ने प्रतिपादन किया है।

जो गृहस्थ इन्द्रियों को मर्यादा में रख कर मानसिक विकारों को रोकने का प्रयत्न करते रहते हैं, उनका जीवन सुखपूर्वक व्यतीत होता है। इन्द्रियों को मर्यादा में रखने से ही शारीरिक और मानसिक अपूर्व शक्ति का उदय होता है और जो विषयलुब्ध हैं उनकी शरीरसंपत्ति बिगड़े बिना नहीं रह सकती। एक-एक इन्द्रियों के विषयवशवर्त्ती प्राणी जब दुःखी देखे जाते हैं तो पांचों इन्द्रियों के विषय में लुब्ध होने वाले प्राणियों की दशा बिगड़े इसमें आश्चर्य ही क्या है?। जब तक इन्द्रियों को पराजय करने का अभ्यास नहीं किया तब तक दूसरा अभ्यास किया हुआ सफल नहीं होता, अत एव इन्द्रियों को मर्यादा में रखने वाला गृहस्थ ही धर्म के योग्य होता है।

इस प्रकार मार्गानुसारी गुणों का संक्षिप्त स्वरूप कहने के बाद यह लिखा जाता है कि—मार्गानुसारी मनुष्यों को मध्यम भेद में क्यों गिने?। इसका समाधान ग्रन्थकार महर्षि इस तरह पर करते हैं—कि मार्गानुसारी पुरुष स्वार्थ और परमार्थ दोनों की साथ ही साधन करता है, अर्थात् त्रिवर्ग का साधन कर परमार्थ साधन करता है, किन्तु केवल परमार्थ (परोपकार) ही नहीं करता रहता।

नीतिकार स्वार्थ और परमार्थ को साथ ही साधन करने का उपदेश देते हैं, परन्तु धर्मशास्त्र कहता है कि स्वार्थ को छोड़कर

केवल परोपकार करने में दत्तचित्त रहना चाहिये। मार्गानुसारी पुरुष नीतिमार्ग का आचरण करने वाला होता है, इसी से वह प्रथम स्वार्थ का साधन करके तदनन्तर परमार्थ में प्रवृत्ति करता है, अत एव मार्गानुसारी पुरुष मध्यमभेद में ही गिने जाते हैं।

मध्यम भेद वाला मनुष्य मध्यस्थस्वभावी होता है, किन्तु किसी भी धर्म (मत) का द्वेषी नहीं होता, इसी से वह सब दर्शनों पर गुणानुराग रखकर प्रत्येक दर्शन से सत्य एवम् सत्य बात को ग्रहण कर लेता है और धीरे-धीरे सद्‌गुणी बनकर परोपकार करने में दृढ़व्रती बनता है।

• • •

पूर्वोक्त चार भेद वालों की प्रशंसा का फल—

***एएसिं पुरिसाणं,**
जइ गुणगहणं करेसि बहुमाणं।
तो आसन्नसिवसुहो,
होसि तुमं नत्थि संदेहो ।।२२।।

शब्दार्थ—(एएसिं) इन पूर्वोक्त (पुरिसाणं) पुरुषों का (बहुमाणं) बहुमान पूर्वक (जइ) जो (गुणगहणं) गुणग्रहण (करेसि) करेगा (तो) तो (तुमं) तूँ (असन्नसिवसुहो) थोड़े ही समय में मोक्षसुख वाला (होसि) होवेगा (संदेहो) इसमें संदेह (नत्थि) नहीं है।

एतेषां पुरुषाणां, यदि गुणग्रहणं करोषि बहुमानम् ।
तत आसन्नशिवसुखो, भवसि त्वं नास्ति संदेहः ।।२२।।

भावार्थ—जो मनुष्य पूर्वोक्त चार भेद वाले पुरुषों के बहुमानपूर्वक गुण ग्रहण करते हैं, उनको निःसन्दे शिवसुख मिलता है।

विवेचन—पूज्य पुरुषों की सादर प्रशंसा करने से अज्ञान का नाश होता है, बुद्धि निर्मल होती है, हृदय पवित्र बनता है, सद्‌गुणों का स्रोत बढ़ता है, अपमान का क्षय होता है, आत्मीय शक्ति का

---

*एतेषां पुरुषाणां, यदि गुणग्रहणं करोषि बहुमानम्।
तत आसन्नशिवसुखो, भवसि त्वं नास्ति संदेहः।।२२।।

प्रकाश, सैद्धान्तिक रहस्यों का ज्ञान, और अनुपम सुखों का अनुभव होता है। गुणी बनने का सब से सरल उपाय यही है कि, पूज्यों का आदर, उनके आने पर खड़े होना, जहाँ-तहाँ उनके गुणों की प्रशंसा करना। पूज्य पुरुषों की निन्दा कभी न करना चाहिये, क्योंकि इससे सद्गुणों की प्राप्ति नहीं होती, प्रत्युत निन्दा से प्राप्त गुणों का विनाश होता है। संसार में गुणद्वेषी मनुष्य दुःखी देखे जाते हैं, और गुणप्रशंसा करने वाले लोगों के द्वारा संमानित होते दीख पड़ते हैं।

अहा!! उन सत्पुरुषों को धन्य है जो कि इस संसार में जन्म लेकर निःस्वार्थवृत्ति से परोपकार करने में अपने जीवन को व्यतीत कर रहे हैं, सैकड़ों दुःख सहनकर संसार रूपी दावानल से सन्तप्त पामर प्राणियों का उद्धार करने में दत्तचित्त हैं, जो किसी में अंशमात्र भी गुण है तो उसको पर्वत के समान मानकर आनन्दित होते हैं, स्वयं दुःख देखते हैं लेकिन दूसरों को दुःखी नहीं होने देते, जो करुणाबुद्धि से संसारी प्राणियों को सुखी होने के उपाय खोजा करते हैं, जो मरणान्त कष्ट आ पड़ने पर भी सत्यमार्ग का उल्लंघन नहीं करते हैं, जो स्वपरहितसाधक व्रतों का पालन करने में सदोद्यत रहते हैं और जो मद मात्सर्य से रहित हो शिष्टाचरण में लगे रहते हैं। वह दिन कब उदय होगा कि जब मैं भी सत्पुरुषों के मार्ग का आचरण करूँगा और सकल कर्मों का क्षयकर अखण्डानन्द विलासी बनूँगा। इस प्रकार शुद्ध भावना के सहित गुणिजनों के गुणों की प्रशंसा कर हृदय को पवित्र करना चाहिये। परमार्थ सिद्धि के लिये पवित्र हृदय की ही आवश्यकता है, धर्मशब्द की व्याख्या करते हुए श्रीमान् श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराज ने 'पुष्टिशुद्धिमच्चित्तं धर्मः' पवित्र विचारों से पुष्ट हुआ अन्तःकरण ही धर्म है अर्थात् हृदय की पवित्रता को ही धर्मतरीके गिना है।

गुणप्रेमी पुरुष धर्म का मर्म सुगमता से समझ सकता है। ग्रन्थकारों ने लिखा है, कि—जो कल्याण की इच्छा रखने वाला, गुणग्राही, सत्य प्रिय, विनीत, निर्मायी, जितेन्द्रिय, नीतिमान्, स्थिर चित्त, विवेकवान्, धैर्यवान्, धर्माभिलाषी और बुद्धिमान् हो, उसी को धार्मिक मर्म समझाना चाहिये, क्योंकि उक्त गुणवाला मनुष्य धार्मिक रहस्यों को भले प्रकार समझकर शास्त्रीय नियमों का स्वयं पालन करता है और दूसरों को भी पालन कराता है। परन्तु अन्तःकरण

की श्रद्धा तथा गुणप्रेमी हुए बिना धार्मिक तत्त्वों को समझने का साहस करना आकाशकुसुमवत् है।

स्वाभाविक हृदयपवित्रता अन्तर्हेतुओं को पुष्ट करने वाली और औन्नत्यदशा पर चढ़ाने वाला होती है। इस भारतभूमि के एक कोणे में अनेक विद्वान् जन्म लेकर विलय हो चुके हैं और अब भी हो रहे हैं, लेकिन प्रशंसा उन्हीं की है जो स्वानुभव के योग से अन्तरङ्ग प्रेम रख कर गुणप्रशंसा करने में अपने अमूल्य समय को व्यतीत करने में उद्यत हैं। शास्त्रकार महर्षियों का तो यहाँ तक कहना है कि—निर्दोषचारित्रवान् और सिद्धान्तपारगामी होने पर भी यदि चित्तवृत्ति निन्दा करने की ओर आकर्षित हो तो उसे मोक्ष सुख का रास्ता मिलना दुर्घट है, और जो शिथिलाचारी है परन्तु वह गुणनुरागी है तो उसे शिवसुख मिलजाना कठिन नहीं है। इसी विषय की पुष्टि के लिये यहां एक दृष्टान्त लिखा जाता है उसे वाचकवर्ग मनन करें।

कुसुमपुर नगर के मध्य में किसी श्रीमन्त सेठ के घर में दो साधु ठहरे। एक मेड़ी पर और एक नीचे ठहरा। ऊपरवाला साधु पंचमहाव्रतधारी, शुद्धाहारी, पादचारी, सचित्तपरिहारी, एकल विहारी आदि गुणगण विभूषित था, परन्तु केवल लोकैषणा मग्न था। नीचे उतरा हुआ साधु, था तो शिथिलाचारी, लेकिन गुणप्रेमी निर्मायी और सरलस्वभावी था।

भक्त लोग दोनों साधुओं को वन्दन करने के लिये आये, प्रथम नीचे उतरे साधु को वन्दन कर फिर मेड़ी पर गये। उपरिस्थित साधु को यह बात मालूम हुई कि ये नीचे वन्दन करके यहाँ आये हैं, अतएव उसने भक्त लोगों से कहा कि—पार्श्वस्थों को वन्दन करने से महापाप लगता है, तथा भगवान की आज्ञा का भंग होता है, और संसार-वृद्धि होती है। नीचे जो साधु ठहरा हुआ है उसमें चारित्रगुण शिथिल है, उसके आचरण प्रशंसा के लायक नहीं हैं, इसलिये ऐसों के वन्दन से संसारपरिभ्रमण कम नहीं हो सकता। भक्त लोग हाँजी-हाँजी कर नीचे उतरे, और सब वृत्तान्त नीचे के साधु से कह दिये।

भक्त लोगों की बातें सुनकर निचला साधु कहने लगा कि—'ऊपर के पूज्यवर्य महाभाग्यशाली, सूत्रसिद्धान्तपारगामी,

निर्दोषचारित्रवान्, शुद्ध आहार लेने वाले हैं, मैं तो शिथिल हूं, केवल उदरंभरी हूं, मुझ में प्रशंसा के लायक एक भी गुण नहीं है, मैं साधुधर्म से बिलकुल विमुख हूँ इसलिये ऊपर के मुनिवर ने जो मुझको अवनन्दनीय बताया है वह ठीक ही है।'

गुणानुरागी मुनि के प्रशंसाजनक वचनों को सुनकर भक्तलोग चकित हो गये और मुक्तकण्ठ से उसकी प्रशंसा करने लगे। इसी अवसर में नगर के बाह्योद्यान में कोई अतिशयज्ञानी मुनिवरेन्द्र का पधारना हुआ, सब लोग वन्दन करने को गये। योग्य सभा के बीच में मुनिवर ने कहा कि—

'भव्यो! किसी शुभकर्म के उदय से यह अत्यन्त दुर्लभ मनुष्यजन्म धारण कर के तथा उत्तम कुल और उत्तम धर्मादि सामग्री पाकर के तुमको चाहिये कि जो वस्तुएँ छोड़ने योग्य हैं उन्हें छोड़ना, जो करने योग्य कर्म हैं उन्हें करना, जो प्रशंसा करने योग्य हैं उनकी प्रशंसा करना और जो सुनने योग्य हैं उन्हें अच्छी तरह से सुनना। मन, वचन और काय सम्बन्धी ऐसी प्रत्येक क्रिया जो कि परिणामों में थोड़ी-सी भी मलिनता उत्पन्न करने वाली, अतएव मोक्ष की रोकने वाली हो, अपनी भलाई चाहने वालों को छोड़ देनी चाहिये। जिनकी अन्तरात्मा निर्मल हो गयी है, उन्हें तीनलोक के नाथ जिनेन्द्रदेव, उनका निरूपण किया हुआ जैनधर्म, और उसमें स्थिर रहने वाले पुरुष, इन तीनों की निरन्तर प्रशंसा करनी चाहिये।'

मुनिवर के आत्मोद्धारक सुभाषित वचनों को सुनकर लोग अत्यानन्दित हुए। अवसर पाकर भक्त लोगों ने पूछा कि भगवन्! गाँव में जो दो साधु ठहरे हुए हैं उनमें लघुकर्मी कौन है?। अतिशयज्ञानी ने कहा कि जो साधु निन्दा करने वाला, लोकैषणामग्न और दम्भी मेड़ी पर ठहरा है उसके भव बहुत हैं, अर्थात् वह संसार में अनेक भव करेगा और जो गुणप्रेमी सरलस्वभावी साधु जो कि नीचे ठहरा हुआ है वह परिमित भव में कर्ममुक्त होकर मुक्ति मन्दिर का स्वामी बनेगा।

पाठक महोदय! इस दृष्टान्त का सार यही है कि उत्तम पुरुषों के गुणों का बहुमान और प्रशंसा करने वाला मनुष्य ही मोक्षसुख का पात्र बन सकता है परन्तु निन्दक और गुणद्वेषी नहीं बन सकता।

अतएव एकान्त में या सभा के बीच में, सोते हुए या बैठे, और गाँव में या अरण्य में, सब जगह प्रतिक्षण उत्तम पुरुषों के गुणों का बहुमान ही करते रहना चाहिए। इसी से मनुष्य आश्चर्यकारक उन्नत दशा पर चढ़कर अपना और दूसरों का भला कर सकता है।

• • •

पार्श्वस्थादिकों की भी निन्दा और प्रशंसा नहीं करना—

*पासत्थाऽऽइसु अहुणा,
संजमसिढिलेषु मुक्कजोगेसु।
नो गरिहा कायव्वा,
नेव पसंसा सहामज्झे।।२३।।

शब्दार्थ—(अहुणा) वर्त्तमान समय में (मुक्कजोगेसु) त्रिविध योग से रहित (संजमसिढिलेसु) संयम परिपालन में शिथिल (पासत्थाऽऽइसु) पार्श्वस्यादिकों की (सहामज्झे) सभा के बीच में (नो) नहीं (गरिहा) निन्दा (कायव्वा) करना चाहिये, (नेव) नहीं (पसंसा) प्रशंसा करना चाहिए।

भावार्थ—आजकल संयम पालने में ढीले पड़े हुए योगक्रिया से हीन पार्श्वस्थ आदि यतिवेषधारी पुरुषों की, सभा के बीच में न तो निन्दा और न प्रशंसा ही करना चाहिए।

विवेचन—संयम लेकर जो नहीं पालन करते और अनाचार में निमग्न रहते हैं उनको अधम से भी अधम समझना चाहिए। आजकल जैनसंप्रदाय में भी बाहर से तो साधुपन का आडम्बर रखते हैं और गुप्तरीति से अनाचारों का सेवन करते हैं, ऐसे एक नहीं किन्तु अनेक नामधारी साधु दीख पड़ते हैं। इसी प्रकार श्रावक भी—श्रावक के गुणों से शून्य, मायाचारी, अनाचारशील, देव-द्रव्य भक्षक, कलह प्रिय और धर्म श्रद्धा विहीन देखे जाते हैं।

जो विषयादि भोगों में लुब्ध चित्तवाले हैं, और जो बाह्य वृत्ति से राग रहित मालूम होते हैं, परन्तु अन्तःकरण में बद्धराग हैं, ऐसे लोगों को कपटी तथा केवल वेषाडम्बरी धूर्त समझना चाहिए। इस

---

* पार्श्वस्थाऽऽदिष्वधुना, संयमशिथिलेषु मुक्तयोगेषु।
नो गर्हा कर्त्तव्या, नैव प्रशंसा सभामध्ये।।२३।।

प्रकार के धूर्त केवल लोगों के चित्त को रंजन करने में ही प्रयत्नशील रहते हैं। हिन्दुस्तान में वर्त्तमान समय में बावन से अट्ठावन लाख नामधारी साधु हैं, उनमें कितने एक यशोवाद धन माल आदि के आधीन हो साध्वाचार को जलौंजली देते हैं, और कई एक उन्मत्तता में मस्त बनकर शास्त्रमर्यादा का उल्लंघन कर स्वेच्छाधारी हो जाते हैं।

पूर्वोक्त विडम्बकों की प्रशंसा करना यह प्राय: अनाचारों की प्रशंसा करने के समान है, इसलिए इनकी प्रशंसा नहीं करना चाहिए, परन्तु सभा के बीच में इनकी निन्दा भी करना अनुचित है। शीलहीन अनाचारी पुरुषों के साथ में परिचय न रखकर उनकी प्रशंसा, अथवा निन्दा करने का प्रसंग ही नहीं आने देना चाहिए, यह सबसे उत्तम मार्ग है। क्योंकि निन्दा करने से शिथिलाचारियों की शिथिलता मिट नहीं सकती, प्रत्युत बैर विरोध अधिक बढ़ता है। और प्रशंसा करने से शिथिलाचार की मात्रा अधिकता से बढ़ जाती है, जिससे धार्मिक और व्यावहारिक व्यवस्था लुप्तप्राय होने लगती है।

राजा की शिथिलता से प्रबल राज्य का, नियोजकों की शिथिलता से बड़े भारी समाज का, आचार्यों की शिथिलता से दिव्य गच्छ का, साधुओं की शिथिलता से संयमयोग का, पति की शिथिलता से स्त्रियों के व्यवहार का, पिताओं की शिथिलता से पुत्रों के सदाचारों का, और अध्यापकों की शिथिलता से विद्यार्थियों के ज्ञान का नाश होते देर नहीं लगती। अतएव बुद्धिमानों को शिथिलाचारियों की प्रशंसा भी न ही करनी चाहिए।

संसार का विचित्र ढंग है, इसमें नानामतिशाली पुरुष विद्यमान हैं। कोई नीतिज्ञ, कोई कर्मज्ञ, कोई मर्मज्ञ, कोई कृतज्ञ है, तो कोई त्रिकालगत पदार्थों का विवेचन करने में निपुण है, और कोई अद्वितीय शास्त्रज्ञ है, परन्तु स्वदोषों को जानने वाले तो कोई विरले ही पुरुष हैं। बृहस्पति जो कि देवताओं के गुरु कहे जाते हैं, उनसे भी वह पुरुष बुद्धिवान् समझा जाता है, जो कि अपने में स्थित दोषों को ठीक-ठीक जानता है और उनको दूर करने में प्रयत्नशील बना रहता है। 'जब मनुष्य इस बात का अनुभव करता है कि मुझ में जो-जो त्रुटियाँ और अपवित्रताएँ हैं उन्हें मैं ने ही स्वयं उत्पन्न किया

है, और मैं ही उनका कर्ता और उत्तरदाता हूँ, तब उसे उन पर जय प्राप्त करने की आकांक्षा होती है। और किस तरह से उसे सफलता हो सकती है, वह मार्ग भी उसे प्रगट हो जाता है। इस बात का भी उसे स्पष्ट ज्ञान हो जाता है कि मैं कहाँ से आया हूँ, और कहाँ मुझे जाना है। निन्दा में उन्मत्त हुए मनुष्य के लिए कोई मार्ग सरल और निश्चित नहीं है। उनके आगे पीछे बिलकुल अन्धकार ही है। वह क्षणिक सुखों के अन्वेषण में रहता है और समझने और जानने के लिए जरा भी उद्योग नहीं करता। उसका मार्ग अव्यक्त, अनवस्थित, दुःखमय और कंटकमय होता है, उसका हृदय शान्ति से कोशों दूर रहता है।'

संसार में सब कोई स्वयं किये हुए शुभाऽशुभ कर्मों के स्वयं उत्तरदाता हैं ऐसा समझ कर अधमाऽधम पुरुषों की निन्दा और प्रशंसा करने से बिलकुल दूर रहना चाहिए, और नीचे लिखे गुर्जर भाषा के पद्य का मननकर कर अपनी आत्मा को पवित्र बनाना चाहिये।

मन चन्दाजी! पुष्पसमी रीत—
राखी जगमां चालवुं।।टेर।।
तुं पुष्पसमी दृष्टि करजे,
सद्गुण तेनां उर धरजे।
दृढ़ निश्चय धारी ने तरजे।।म.।।१।।
जेने दूरथी पण सुवास दिये,
निरखे ते झट चूंटी लिये।
दुःख थाय तथापि नहीं ह्रीये।।म.।।२।।
चोले तो तेनो नाश थतो,
पण हाथथी वास न दूर जतो।
एवो उत्तम गुण तुं कर छतो।।म.।।३।।
हे मन! पुष्पसमूं थई रहेजे,
अवगुण कोई ना न उर लेजे।
सर्वस्थले सहुने सुख करजे।।म.।।४।।

कन्नड़े तेन सुख देवुं,
तुं आजथी व्रत लेने एवुं।
दुःख लागे मन मारी रहेवुं।।म.।।५।।
तत्त्वदृष्टियें दुःख नाम नहीं,
सुख पण शोध्युं जड़े न अहीं।
शीद झुरी मरे छे ममत्व ग्रहीं।।म.।।६।।
कंकुचन्दनी जो तुं सीख धरे,
तो जल्दी तुं सुख शान्ति वरे।
आत्मा गुण खोजे मुक्ति वरे।।म.।।७।।

• • •

अधमाधमों को उपदेश देने की तरकीब—

***काऊण तेसु करुणं,**
जइ मन्नइ तो पयासए मग्गं।
अह रूसइ तो नियमा,
न तेसि दोसं पयासेइ।।२४।।

शब्दार्थ—(जइ) जो (मन्नइ) शिक्षा माने (तो) तो (तेसु) उन पर (करुणं) दयाभाव (काऊण) लाकर (मग्गं) शुद्ध मार्ग को (पयासए) प्रकाशित करे (अह) अथवा वह (रूसइ) क्रुधित हो (तो) तो (तेसि) उन के (दोसं) अवगुण को (नियमा) निश्चय से (न) नहीं (पयासेइ) प्रकाशित करना।

भावार्थ—हीनाचारी अधमाधम पुरुषों के ऊपर करुणाभाव ला करके यदि उन्हें अच्छा मालूम हो तो हित बुद्धि से सत्यमार्ग बताना चाहिए, यदि सत्यमार्ग बताने में उनको क्रोध आता हो तो उनके दोष बिलकुल प्रकाशित नहीं करना चाहिए।

विवेचन—वास्तव में उपदेश उन्हीं को लाभ कर सकता है जो अपनी आत्मा को सुधारना चाहते हैं, जो उपदेश देने से क्रुधित होते हैं उनको उपदेश देना ऊषरभूमि पर बीज बोने के समान निष्फल है।

---

*कृत्वा तेषु करुणां, यदि मन्यते ततः प्रकाशते मार्गम्।
अथ रुष्यति ततो नियमात्, न तेषां दोषं प्रकाशयति।।२४।।

इसी से ग्रन्थकार ने 'जइ मन्नइ तो पयासए मग्गं' यह वाक्य लिखा है, इसका असली आशय यही है कि सुनने वालों की प्रथम रुचि देखना चाहिए, क्योंकि सुनने की रुचि हुए बिना उपदेश का असर आत्मा में भले प्रकार नहीं बैठ सकता। अतएव रुचि से मानने वाले (अधमाधम) पुरुषों को हृदय में करुणाभाव रख कर मधुर वचनों से इस प्रकार समझाना चाहिए—

महानुभावो! इस संसार में अनेक भवों में परिभ्रमण करते हुए कोई अपूर्व पुण्ययाग से सर्वसावद्यविरतिरूप अनन्त सुखदायक चारित्र की प्राप्ति हुई है, उसको प्रमादाचरण से सदोष करना अनुचित है। जो साधु आलस छोड़कर मन, वचन और काया से साधु धर्म का पालन करते हैं उन्हें सर्वोत्कृष्ट ज्ञानादि सद्गुण प्राप्त होते हैं। जो सुख साधुधर्म में है वह राजा महाराजाओं को भी नहीं मिल सकता, क्योंकि साधुपन में दुष्टकर्मों की आवदानी नहीं है, स्त्री, पुत्र और स्वामी के कठोर वचनों का दुःख नहीं है, राजा वगैरह को नमस्कार करने का काम नहीं है, भोजन, वस्त्र, पात्र, धन और निवासस्थान आदि की चिन्ता नहीं है, अभिनवज्ञान की प्राप्ति, लोकपूजा और शान्तभाव से अपूर्व सुख का आनन्द प्राप्त होता है, और भवान्तर में भी चारित्र परिपालन से स्वर्गापवर्ग का सुख मिलता है।

जो साधु संयमधर्म में बाधा पहुँचाने वाले बिना कारण दिनभर शयन करना, शरीर, हाथ, मुख, पैर आदि को धोकर साफ रखना, कामवृद्धि करने वाले पौष्टिक पदार्थों का भोजन करना, सांसारिक विषयवर्द्धक शृंगार कथाओं को वांचने में समय व्यतीत करना, गृहस्थों का और स्त्रियों का नित्य परिचय रखना, आधाकर्मादि वस्तुओं का सेवन, और हास्य कुतूहल करना, अप्रतिलेखित पुस्तक, वस्त्र, पात्र और शय्या रखना, इत्यादि दोषों का आचरण करते हैं, उनको उभयलोक में सुख समाधि नहीं हो सकती, और न कर्मबन्ध का स्रोत ही घटता है। जो उक्त दोषों को छोड़कर छठ अठमादि तपस्या, क्षमा और संयम में रक्त, क्षुधा, तृषा आदि परिषह सहने में उद्यत रहते हैं, वे भगवान की आज्ञाओं का भले प्रकार आराधन कर मोक्षगति को सहज में प्राप्त करते हैं। अतएव साधुओं को चारित्र अंगीकार कर अनाचारों से अपनी आत्मा को बचाने में प्रयत्नशील रहना चाहिए।

कदाचित् उग्रसंयम पालन करते न बने, तो स्त्रियों के परिचय से तो सर्वथा अलग ही रहना चाहिए, क्योंकि सुशील मनुष्य भी सामान्य से सज्जन और कृतपुण्य समझा जाता है। अनाचार सेवन करना महापाप है, दूसरे गुणों से हीन होने पर भी यदि अखंड ब्रह्मचर्य होगा तो उससे गुरुपद की योग्यता प्राप्त हो सकेगी, परन्तु ब्रह्मचर्य में गड़बड़ हुई तो वह किसी गुण के लायक नही रह सकता।

साधु धर्म को स्वीकार करके जो गुप्तरूप से अनाचार सेवन, और मायास्थान सेवन करते हैं, उनसे गृहस्थधर्म लाख दरजे ऊँचा है, इसी से शास्त्रकार कहते हैं कि यदि साधुता तुम्हारे से न पाली जा सकती हो तो गृहस्थ बनो, अगर तुम्हें ऐसा करने में लज्जा आती हो तो निष्कपटभाव से लोगों के समक्ष यह बात स्पष्ट कहो कि मैं साधु नहीं हूँ, परन्तु साधुओं का सेवक हूँ, जो उत्तम साधु हैं उन्हें धन्य है, मैं तो उनके चरणों के रज की भी बराबरी नहीं कर सकता। मानसिक विकारों और तज्जन्य प्रवृत्तियों को रोक कर संयम परिपालन करना यह सर्वोत्तम मार्ग है और इसी मार्ग से आत्मिक अनन्तशक्तियों का विकास होकर उत्तम प्रकार की योग्यता प्राप्त होती है।

यदि यथार्थ संयम पालन करने की सामर्थ्य का नाश होते दीख पड़े और मानसिक विकारों का स्रोत किसी प्रकार न घट सकता हो तो गृहस्थ बनकर गृहस्थधर्म की सुरक्षा करनी चाहिए, क्योंकि गृहस्थधर्म से भी आत्मीय सुधारा हो सकता है। कहा भी है कि—

गारं पि अ आवसे नरे, अणुपुव्विं पाणेहिं संजए।
समता सव्वत्थ सुव्वते, देवाणं गच्छे स लोगयं।।

भावार्थ—घर में निवास करने वाला गृहस्थ भी अनुक्रम से देशविरति का पालन और सर्वत्र समताभाव में प्रयत्न करता हुआ देवलोकों में जाता है। अर्थात् गृहस्थ घर में रहकर भी जिनेन्द्रोक्त श्रावक धर्म की भले प्रकार आराधना कर देव लोक की गति प्राप्त करता है और क्रमशः मोक्षगामी बनता है।

इसी प्रकार मधुरशब्दों में करुणाभाव से उन हीनाचारियों को, जो कि संयम धर्म से पतित अनाचारी हैं, उपदेश देकर सुधारना चाहिये, किन्तु उनके दोष प्रकट करना न चाहिए, क्योंकि दोषियों के

दोष प्रकट करने से उनके हृदय पटल पर उपदेश का प्रभाव नहीं पड़ता। हीनाचारियों के प्रति करुणाभाव रखने से उनके अज्ञान नष्ट करने में प्रवृत्त होने की प्रेरणा होती है, अन्त में परिणाम यह होता है कि न्यूनाधिक रूप से उन हीनाचारियों के अनाचार मिटने लगते हैं, उनकी आत्मिक उत्क्रान्ति का मार्ग भी साफ हो जाता है, और इस भावना और सहायता को करने वाला मनुष्य भी उन्नत होता है। अतएव मधुरता और करुणाभाव पूर्वक ही प्रत्येक व्यक्ति को समझाने और सुधारने का प्रयत्न करना चाहिए। विकराल अथवा हिंसक पशु भी प्रेमदृष्टि और करुणाभाव से सुधर सकते हैं, तो अधम पुरुष क्यों नहीं सुधर सकते?

ग्रन्थकार ने करुणाभाव पूर्वक समझाने की जो शिक्षा दी है, वह सर्व ग्राह्य है, वास्तव में उपदेशकों को उपदेश देने में, माता पिताओं को अपने बालक और बालिकाओं को समझाने में, गुरुजनों को अपने शिष्यवर्ग को सुधारने में, अध्यापकों को विद्यार्थिवर्ग को विद्या ग्रहण कराने में, और पति को अपनी स्त्री को सच्चरित्र सिखाने में उक्त महोत्तम शिक्षा का ही अनुकरण करना चाहिए। जो लोग शिक्षा देते समय कटुक और अवाच्य शब्दों का प्रयोग करते हैं उनकी शिक्षाओं का प्रभाव शिक्षकवर्ग पर किसी प्रकार नहीं पड़ सकता, न उनका सुधारा ही हो सकता है।

अधमजनों को उपदेश देने और समझाने से यदि उनको अप्रीति उत्पन्न होती हो तो माध्यस्थ्यभावना रखकर न तो उनकी प्रशंसा और न उनके दोष ही प्रकट करना चाहिए। अर्थात् अधमजनों की नीच प्रवृत्ति देखकर उनकी प्रवृत्तियों से न तो आनन्दित होना, और न उन पर द्वेष ही रखना चाहिए। कर्मों की गति अतिगहन है, पूर्ण पुण्य के बिना सत्यमार्ग पर श्रद्धा नहीं आ सकती। वसन्त ऋतु में सभी वनराजी प्रफुल्लित होती है, परन्तु करीर वृक्ष में पत्र नहीं लगते, दिन में सब कोई देखते हैं लेकिन घुग्घू नहीं देखता, और मेघ की धारा सर्वत्र पड़ती है किन्तु चातक पक्षी के मुख में नहीं पड़ती, इसमें दोष किसका है? अतएव अधम जनों को उपदेश न लगे तो उनके कर्मों का दोष समझना चाहिए। ऐसा सम्यक्तया जानकर गुणिजनों को माध्यस्थ्यभावना पर आरूढ रह कर अधमजनों के दोष प्रकाशित करना उचित नहीं है।

वर्तमान समय में सद्गुणी पुरुष कम हैं, इसलिए पूर्वोक्त सभी गुण नहीं मिलना यह स्वाभाविक है, परन्तु जिसमें अल्प गुण भी दीख पड़े उसका बहुमान करना करना चाहिए। यही उपदेश ग्रन्थकार देते हैं—

• • •

***संपइ दूसमसमए,**
दीसइ थोवो वि जस्स धम्मगुणो
बहुमाणो कायव्वो,
तस्स सया धम्मबुद्धीए।।२५।।

शब्दार्थ—(संपइ) इस (दूसमसमए) पंचमकाल में (थोवो) थोड़ा (वि) भी (जस्स) जिस पुरुष का (धम्मगुणो) धार्मिक गुण (दीसइ) दीख पड़ता है (तस्स) उसका (बहुमाणो) बहुमान—आदर (सया) निरन्तर (धम्मबुद्धीए) धर्मबुद्धि से (कायव्वो) करना चाहिए।

भावार्थ—वर्तमान समय में जिस मनुष्य में थोड़े भी धार्मिक गुण दीख पड़ें, तो उनकी धार्मिक बुद्धि से निरन्तर बहुमान पूर्वक प्रशंसा करनी चाहिए।

विवेचन—तीर्थंकर और गणधर सदृश स्वावलम्बी, कालिकाचार्य जैसे सत्यप्रिय, स्थूलभद्र, जम्बूस्वामी और विजयकुँवर जैसे ब्रह्मचारी, सिद्धसेन, वादिदेव, यशोविजय और आनन्दघन जैसे अध्यात्मतार्किकशिरोमणि, हेमचन्द्र आदि के सदृश संस्कृतसाहित्य प्रेमी, और धन्ना, शालिभद्र, गजसुकुमाल आदि महिमाशाली महर्षियों के सदृश तपस्वी सहनशील आदि सद्गुणों से सुशोभित प्रायः वर्त्तमान में कोई नहीं दीख पड़ता, तथापि इस समय में भी आदर्श पुरुषों का सर्वथा लोप नहीं है, आज कल भी अनेक सद्गुणी पुरुष विद्यमान हैं, हाँ इतना तो माना जा सकता है कि पूर्व समय की अपेक्षा इस समय न्यूनता तो अवश्य है।

अतएव इस दुःषम समय में जिस पुरुष में अल्प भी गुण हो तो उसकी हृदय से प्रशंसा करना चाहिये, क्योंकि प्रशंसा से मानसिक दशा पवित्र रहती है, और सद्गुणों की प्रभा बढ़ती है।

---

* संप्रति दुःषमसमये, दृश्यते स्तोकोऽपि यस्य धर्मगुणः।
बहुमानः कर्त्तव्य-स्तस्य सदा धर्मबुद्ध्या।।२५।।

पुरुष चाहे किसी मत के आश्रित क्यों न हो, परन्तु उसमें मार्गानुसारी आदि धार्मिक गुण प्रशंसा के लायक है। पूर्वकालीन इतिहास और जैनशास्त्रों के निरीक्षण करने से यह स्पष्ट मालूम होता है कि पूर्व समय के विद्वान गुणानुरागी अधिक होते थे, वे सांप्रदायिक आग्रहों में निमग्न नहीं थे, जैसे वर्त्तमान समय में पाये जाते हैं। हरिभद्र और हेमचन्द्र जैसे विद्वत्समाज शिरोमणि आचार्यों ने स्वनिर्मित ग्रन्थों में भी अनेक जगह 'तथा चोक्तं महात्मना व्यासेन' 'तथा चाह महामतिः पतञ्जलिः' 'भगवता महाभाष्यकारेणाव स्थापितम्' इत्यादि शब्दों द्वारा पतञ्जलि और वेदव्यास आदि वैदिकाचार्यों की प्रशंसा की है। वास्तव में विद्वान लोग सत्यग्राही होते हैं, उन्हें जहाँ सत्य दीख पड़ता है उसे वे आदर और बहुमान पूर्वक ग्रहण कर लेते हैं। और जो जितने अंश में प्रशस्य गुणवाला होता है, उतने अंश में उसकी आदर प्रशंसा किया करते हैं। पूर्वाचार्यों के प्रखर पाण्डित्य से आज समस्त भारत आश्चर्यान्वित हो रहा है, यह पाण्डित्य उनमें गुणानुराग से ही प्राप्त हुआ था। जो लोग दोषदृष्टि को छोड़कर गुणानुरागी हो जाते हैं उनकी मानसिक शक्ति इतनी प्रबल हो जाती है कि सांसारिक आपत्तियाँ उसे बिलकुल नहीं सता सकती।

'शरीर के रोग दूर करने के लिए, आनन्दप्रद और सुखमय विचार से अधिक लाभकारी औषधि कोई नहीं है। शोक और क्लेश को हटाने के लिए नेक विचारों से अधिक प्रभावशाली कोई उपाय नहीं है। शत्रुता, और द्वेष-द्रोह के विचारों में निरन्तर रहने से मनुष्य अपने को स्वरचित कारागार में बन्दी कर देता है, परन्तु जो मनुष्य जगत का भला देखता है, तथा जगत में सबों से प्रसन्न है और धैर्य से सबों में भले गुणों को देखने का यत्न करता है, वह निःसन्देह अपने लिये स्वर्ग के पट खोलता है। जो प्रत्येक जन्तु से प्रेम और शान्तभाव के साथ व्यवहार करता है, उनको निःसन्देह प्रेम और शान्ति का कोश मिलेगा।'(जेम्सएलन)

'दूसरे के साथ तुम वैसा ही व्यवहार करो जैसा अपने लिये अच्छा समझो। अर्थात् अगर तुम किसी से मीठी बात बोलो, और किसी की गाली नहीं सुनना चाहते हो तो किसी को गाली मत दो।'

अतएव प्रत्येक व्यक्ति में जो गुण हों उन्हीं का अनुकरण और बहुमान करना चाहिए। 'गुण के अनुकरण की अपेक्षा दोष का अनुकरण करना सुगम है, किन्तु दोष के अनुकरण में हानियाँ कितनी हैं? इसे भी सोचना चाहिए। दस दोषों का अनुकरण न कर एक गुण का अनुकरण करना अच्छा है, जैसे दोष में अनेक बुराइयाँ भरी हैं वैसे ही गुण में अनेक लाभ हैं।'

चाहे जैन हो या जैनेतर, यदि वह सुशील, सहनशील, सत्यवक्ता और परोपकार आदि गुणों से युक्त हो तो उसको बहुमान देने में किसी प्रकार की दोषापत्ति नहीं है। यद्यपि जो लोग व्यभिचारी, हिंसक और परापवादी हैं उनका बहुमान करना ठीक नहीं है, तथापि निन्दा तो उनकी भी करनी अच्छी नहीं है।

'जहाँ द्वेष, निन्दा और अनादर विद्यमान है वहाँ स्वार्थ रहित प्रेम नहीं रहता, प्रेम तो उसी हृदय में वास करता है जो निन्दारहित हो। जो मनुष्य ईश्वरीय प्रेम प्राप्त करने का प्रयत्न करता है वह सर्वथा निन्दा करने के स्वभाव को जीत रहा है, क्योंकि जहाँ पवित्र आत्मीय ज्ञान है वहाँ निन्दा नहीं रह सकती। केवल वही मनुष्य सच्चे प्रेम का अनुभव कर सकता है और उसी हृदय में सच्चा और पूर्ण प्रेम रह सकता है, जो निन्दा के लिए सर्वथा असमर्थ है।

• • •

स्वगच्छ या परगच्छ के गुणी साधुओं पर अनुराग—

***तनु परगच्छि सगच्छे,**
जे संविग्गा बहुस्सुया मुणिणो।
तेसिं गुणाणुरायं,
मा मुंचसु मच्छरप्पहओ।।२६।।

शब्दार्थ—(तनु) इसलिये (परगच्छि सगच्छे) परगच्छ और स्वगच्छ में (जे) जो (संविग्गा) वैराग्यवान् (बहुस्सुया) बहुश्रुत (मुणिणो) मुनि हों (तेसिं) उनके (मच्छरप्पहओ) मात्सर्यहत होकर तू (गुणाणुरायं) गुणों का अनुराग (मा) मत (मुंचसु) छोड़।

---

*ततः परगच्छे स्वगच्छे, ये संविग्ना बहुश्रुता मुनयः।
तेषां गुणानुरागं, मा मुञ्च मत्सर प्रहतः।।२६।।

भावार्थ—स्वगच्छ या परगच्छ में जो वैराग्यवान् और बहुश्रुत (विद्वान्) साधु हों उनके गुणों पर मत्सरी बनकर अनुराग को मत हटाओ।

विवेचन—स्वगच्छ या परगच्छ में जो-जो वैराग्यवान् बहुश्रुत और क्रियापात्र साधु हैं उनके साथ सहानुभूति रखने से ही सामाजिक उन्नति भले प्रकार हो सकती है। जो लोग गच्छसम्बन्धी छोटी-छोटी बातों पर वाद विवाद चलाकर राग द्वेष का पोषण करते हैं और एक दूसरे को अवाच्य शब्द कहकर या लिखकर संतुष्ट होना चाहते हैं वे वास्तव में धार्मिक उन्नति की सघन नीवों का सत्यानाश करते हैं। जब तक गुणीजनों के गुणों का बहुमान न किया जायगा, अर्थात् संकुचित विचारों को छोड़ कर यथाशक्ति संप्रदायान्तर के गुणिजनों का गुणानुवाद करने का उत्साह न रक्खा जायगा, तब तक उस प्रेम के लिये प्रयत्न करना होगा, जो पूर्ण शान्ति और स्वतन्त्रता का समर्पण करता है।

'हम लोगों के परस्पर जितने व्यवहार हैं, आईने में मुँह देखने के बराबर हैं। जैसे—अपने को सामने रख कर हँसोगे तो प्रतिबिम्ब हँसेगा, और रोओगे तो प्रतिबिम्ब रोवेगा। वैसे ही तुम किसी का उपकार करोगे तो तुम्हारा भी कोई उपकार करेगा, और तुम किसी की हानि करोगे तो बदले में तुम्हें भी हानि भुगतनी पड़ेगी। अर्थात् प्रेम करने पर प्रेम, शत्रुता करने पर शत्रुता प्राप्त होगी। किसी को हृदय दोगे तो हृदय पाओगे, और कपट के बदले कपट मिलेगा। तुम हँसकर बोलोगे तो तुम्हारे साथ संसार के लोग हँसकर बोलेंगे और तुम मुँह छिपाओगे तो संसार के लोग तुम से भी मुँह छिपावेंगे। दूसरे को सुखी करोगे तो आप भी सुखी होओगे, और दूसरे को दुःख दोगे तो स्वयं दुःख पाओगे। दूसरे का तुम सम्मान करोगे तो तुम्हारा सम्मान भी लोग करेंगे और दूसरे का अपमान करोगे, तो तुम्हें भी अपमानित होना पड़ेगा। सारांश यह कि जैसा करोगे वैसा ही फल पाओगे।' (चरित्रगठन पृष्ठ ४४)

आजकल के विद्वानों में प्रायः परस्पर सहानुभूति नहीं देखी जाती, यदि कोई विद्वान साधु समाज के सुधार करने में प्रवृत्त है और शिक्षा के क्षेत्र में यथावकाश भाग ले रहा है, तो कई एक साधु

मात्सर्य से उनके कार्य में अनेक बाधायें पहुँचाने के लिये तैयार हो जाते हैं। कई एक तो ऐसे हैं कि अन्य गच्छ या संघाटक, अथवा अपने विचार से भिन्न विचार वाले जो गुणी साधु या आचार्य हैं उनकी व्यर्थ निन्दा कर अपने अमूल्य चारित्ररत्न को कलङ्कित करते हैं। चाहिये तो ऐसा कि सभी गच्छवाले परस्पर मिलकर शासन की उन्नति करने में भाग लें, और यथासंभव एक दूसरे को सहायता दें, क्योंकि यथार्थ में सबका मुख्य उद्देश्य एक ही है।

जब से गच्छों के भयानक झगड़े खड़े हुए और एक दूसरे के कार्य में सहायता देना बन्द हुई, तब से विशाल जैन समाज का ह्रास होते-होते आज इना गिना समाज दृष्टिपथ में आ रहा है। यह बात हमें स्पष्टतया जान पड़ती है, कि आज कई एक वणिक जातियाँ ऐसी हैं जो पूर्व समय में जैनधर्म पालती थीं, लेकिन इस समय वैष्णव धर्म का पालन कर रही हैं। और समाज की कमी होने में गच्छों का परस्पर विरोध भी कारणभूत है।

इतिहास, धर्मग्रन्थ और जीवन चरित्रों पर दृष्टि डालने से मालूम होता है कि बड़े-बड़े महात्मा और महापुरुषों ने जो-जो सामाजिक, धार्मिक और व्यावहारिक महत्कार्य किये हैं, वे परस्पर सहानुभूति रखकर ही किये हैं, ईर्ष्या द्वेष बढ़ाकर तो किसी ने नहीं किया। अतएव दोष दृष्टि को छोड़कर सबको गुणप्रेमी बनना चाहिये। क्योंकि गुणानुराग से जो उन्नति हो सकती है वह दूसरे गुणों से नहीं हो सकती।

यदि भिन्न-भिन्न गच्छों की सत्यता या असत्यता पर कभी विचार अथवा लेख की आवश्यकता हो तो उसमें शान्ति या मधुरता के विरुद्ध कार्य करना अनुचित है। जिसके वचन में शान्ति और मधुरता की प्रधानता है उसका वचन दुनिया में सर्वसाधारण मान्य होता है। इसी पर विद्वान 'जेम्सएलन' ने लिखा है कि—

'शान्त मनुष्य आत्मसंयम का अभ्यास करके अन्य पुरुषों में अपने को मिला सकता है, और अन्य पुरुष भी उसकी आत्मिक शक्ति के आगे शिर झुकाते हैं, उसकी श्रद्धा से देखते हैं और उनको अपने आप ही भासमान होने लगता है कि वे उससे शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं और उस पर विश्वास कर सकते हैं। मनुष्य जितना ही अधिक शान्त होगा उतना ही अधिक वह सफल मनोरथ वाला होगा,

और उतना ही अधिक उसका प्रभाव भी बढ़ेगा तथा उतनी ही अधिक उसको भलाई करने की शक्ति होगी।'

चरित्रसंगठन में भी कहा है कि—

'जो लोग मधुर वचन बोलते हैं और जो उसे सुनते हैं, दोनों ही के हृदय में शान्ति सुख प्राप्त होता है, मन में पवित्र भाव का उदय होता है, तथा आत्मा तृप्त होती है।

मधुरभाषी लोग सबके प्यारे होते हैं, और जहाँ मीठी बातें बोली जाती हैं वहाँ की हवा मधुमय हो जाती है। इसलिये एक मधुरभाषी व्यक्ति सैकड़ों के सुख का कारण होता है तथा मधुर वचन के सुनने वाला दुःख, शोक, शोच, विषाद की सभी बातें को भूल जाता है।'

अतएव स्वधर्म के सत्य मन्तव्य प्रकाशित करने या दूसरों को समझाने में शान्ति और मधुरशब्दों को अग्रगण्य बनाना चाहिये और किसी की भी निन्दा नहीं करना चाहिये। समाजी या गच्छों के प्रतिष्ठित पुरुषों के गुणों की प्रशंसा ही निरन्तर करना चाहिये, किन्तु उनके साधारण दोषों पर दृष्टिपात करना अच्छा नहीं है। जो मन में गर्व नहीं रखते, और किसी की निन्दा नहीं करते, तथा कठोर वचन नहीं कहते, प्रत्युत दूसरों की कही हुई अप्रिय बात को सह लेते हैं, और क्रोध का प्रसंग आने पर भी जो क्रोध नहीं करते तथा दूसरों को दोषी देखकर भी उनके दोष को न उघाड़ कर यथासाध्य उन्हें दोष रहित करने की चेष्टा करते हुए स्वयं द्वेषजनक मार्ग से दूर रहते हैं, वे पुरुष अवश्य अपना और दूसरों का सुधार कर सकते हैं, और उन्हीं से धार्मिक व सामाजिक उन्नति भले प्रकार हो सकती है। इसलिये स्वगच्छ या परगच्छ स्थित गुणी मुनिजनों को प्रेम दृष्टि से देखते रहो, जिससे आत्मा पवित्र बने।

• • •

गुणों के बहुमान से गुणों की सुलभता—

***गुणरयणमंडियाणं,**
बहुमाणं जो करेइ सुद्धमणो।

---

* गुणरत्नमण्डितानां, बहुमानं यः करोति शुद्धमनाः ।
सुलभा अन्यभवे च, तस्य गुणा भवन्ति नियमेन ।।२७।।

सुलहा अन्नभवम्मि य,
तस्स गुणा हुंति नियमेणं।।२७।।

शब्दार्थ—(जो) जो (सुद्धमणो) पवित्र मन होकर (गुणरयण-मंडियाणं) गुणरूप रत्नों से सुशोभित पुरुषों का (बहुमाणं) बहुमान—आदर (करेइ) करता है (तस्स) उसके (गुणा) गुण (अन्नभवम्मि) दूसरे भव में (नियमणं) निश्चय से (सुलहा) सुलभ (हुंति) होते हैं।

भावार्थ—जो पुरुष गुणवान पुरुषों का शुद्ध मन से बहुमान करता है उसे सद्गुण दूसरे भव में नियम से सुलभ होते हैं, अर्थात् सुगमता से मिलते हैं।

विवेचन—जितनी शोभा सद्गुणों से होती है उतनी बाह्य आभूषण वस्त्र आदि से नहीं हो सकती। यद्यपि संसारगत मनुष्य शरीर शोभा के लिये उत्तम-उत्तम प्रकार के रत्न और मुक्ताओं से जड़े हुए हार आदि अलंकार धारण करते हैं और सुन्दर-सुन्दर कोट, पतलून (पेंट) आदि पहनते हैं किन्तु उनसे उनकी वास्तविक शोभा उतनी नहीं होती, जितनी की सद्गुणी पुरुषों की होती है। संसार में रत्न सब से अधिक बहुमूल्य होता है, लेकिन गुणरूप रत्न तो उससे भी अधिक महर्घ है, यहाँ तक कि रत्नों का मूल्य तो अंकित हो सकता है परन्तु गुणरूप रत्नों का मूल्य तो अंकित नहीं हो सकता। गुणहीन मनुष्य शोभा के क्षेत्र से बहिष्कृत है, उसे शोभा और मान किसी स्थान पर नहीं प्राप्त होती।

किसी समय धारानगरी पति भोजनृपति ने अपनी सभा के शृङ्गारभूत और सर्वशास्त्रविचार विचक्षण पाँच सौ पण्डितों से यह प्रश्न पूछा कि—'संसार में जो गुणहीन पुरुष हैं, उन्हें किस के समान समझना चाहिये?' तब उनमें से धनपाल पण्डित ने यह कहा कि—

'येषां न विद्या न तपो न दानं, ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूताः, मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति।।१।।'

भावार्थ—जिनमें विद्या, तप, दान, ज्ञान, शील, गुण और धर्म नहीं हैं वे पुरुष मृत्युलोक में इस पृथ्वी पर भारभूत हैं और मनुष्यरूप से मृग के सदृश विचरते हैं। अर्थात् जो लोग संसार में

अवतार लेकर विद्या नहीं पढ़ते, अथवा तपस्या नहीं करते, किंवा हीन दीन और दुःखियों को सहायता नहीं देते, एवं आचार विचार और वीर्यरक्षा नहीं करते, तथा सहनशीलता आदि सद्गुण नहीं धारण करते और आत्मधर्म में नहीं रमण करते, उनको यथार्थ में मनुष्य आकार में मृग ही समझना चाहिये। जिस प्रकार मृग घास खा कर अपने जीवन को पूरा करता है, वैसे ही गुणहीन मनुष्य भी खा पीकर अपने अमूल्य और दुष्प्राप्य जीवन को खो देता है।

पंडितों की बात सुनकर किसी दूसरे पण्डित ने मृग का पक्ष लेकर कहा कि सभा में नीति विरुद्ध बोलना बिलकुल अनुचित है। निर्गुणी मनुष्य को मृग सदृश समझना भारी भूल है, क्योंकि मृगों में तो अनेक प्रशस्य गुण होते हैं। देखिये—गायन सुनानेवालों को शिर, लोगों को मांस, ब्रह्मचारियों को चर्म, योगियों को सींग, मृग ही देते हैं और स्त्रियों को उनके ही नेत्रों की उपमा दी जाती है, इसी से स्त्रियाँ 'मृगाक्षी' कहलाती हैं। तथा मृगों की कस्तूरी उत्तम कार्यों में काम आती है, और बल पुष्टि के लिये सहायक होती है। अत एव कितने ही उपदेशक कहते हैं कि—

'दुर्वांकुरतृणाऽऽहाराः, धन्यास्ते वै वने मृगाः।
विभवोन्मत्तमूर्खाणां, न पश्यन्ति मुखानि ये।।२।।'

भावार्थ—वे नवीन दूर्वा के अंकुर और घास खाने वाले वन में मृग धन्य हैं जो धन से उन्मत्त मूर्खों के मुख नहीं देखते। अर्थात् जो धर्म कार्य में धन नहीं खर्च करते और अभिमान में उन्मत्त रहते हैं उनसे अरण्यस्थि घास खाने वाले मृग ही ठीक हैं जो कि वैसे पापीजनों का मुँह नहीं देखते।

अतएव निर्गुणी मनुष्यों को मृग के समान नहीं समझना चाहिये। तब धनपाल ने विचार करके कहा कि जब ऐसा है तो निर्गुणी मनुष्यों को—'मनुष्यरूपाः पशवश्चरन्ति' मनुष्य रूप से पशु सदृश कहना चाहिये। तदनन्तर प्रतिवादी पण्डित ने पशुओं में से गौ का पक्ष लेकर कहा कि—यह बात भी बिलकुल अनुचित है, सभ्यसभा में ऐसा कहना नीतिविरुद्ध है, क्योंकि—

'तृणमत्ति राति दुग्धं, छगणं च गृहस्य मण्डनं भवति।
रोग पहारि मूत्रं, पुच्छं सुरकोटिसंस्थानम्।।३।।'

भावार्थ—गौ तृण (घास) खाती है, और अमृत के समान मधुर दूध और छगन (बाणा) देती है, तथा गौ से घर की शोभा होती है, गौ का मूत्र रोगियों के रोगों का नाश करता है, और गौ की पुच्छ कोटियों देवताओं का स्थान समझा जाता है।

गौ का दर्शन भी मंगलकारक है, संसार में प्रायः जितने शुभ कार्य हैं उनमें गौ का दूध, दही और घी सर्वोत्तम है। अतएव निर्गुणी पुरुष गौ के समान क्यों कहा जाय?। तदनन्तर वृषभ का भी पक्ष लेकर कहा—

'गुरुशकटधुरन्धरस्तृणाशी,
समविषमेषु च लाङ्गलापकर्षी
जगदुपकरणं पवित्रयोनि—
र्नरपशुना किमु मीयते गवेन्द्रः?।।४।।

भावार्थ—वृषभ बड़े-बड़े गाड़ों की धुरा धारण करता है, घास खाता है, सम और विषम भूमि पर हल को खींचता रहता है, खेती करने में तनतोड़ सहायता देता है, अतएव पवित्रयोनि गवेन्द्र के साथ नर पशु की समानता किस प्रकार हो सकती है?

इन सभी पशुओं के गुण सुनकर धनपाल पण्डित ने कहा कि—गुणहीन पुरुषों को जो प्रत्येक वस्तु का सारासार समझने और विचार करने में शून्य हैं उनको 'मनुष्यरूपेण शुनः स्वरूपाः' मनुष्यरूप से कुत्ते के समान गिनना चाहिये। उस पर फिर प्रतिवाद ने कुत्ते का पक्ष लेकर कहा कि—

'स्वामिभक्तः सुवैत यः, स्वल्पनिद्रः सदोद्यमी।
अल्पसन्तोषोवाक्शूरः, तस्मात्तत्तुल्यता कथम्?।।५।।

भावार्थ—जो खाने को देता है उसका कुत्ता भक्त होता है, खटका होते ही जागता है, थोड़ी नींद लेता है, नित्य उद्यमशील है, थोड़ा भोजन मिलने पर भी सन्तोष रखता है, और वचन का शूर वीर है, तो निर्गुणी की तुल्यता कुत्ते से किस तरह की जा सकती है?

कुत्ते जिनके हाथ दान रहित, कान धर्मवचन सुनने से शून्य, मुख असत्योद्गार से अपवित्र, नेत्र साधुदर्शन से रहित, पैर

तीर्थमार्गगत रज से रहित और अन्यायोपात्त द्रव्य से उदर अशुचि है, उनका मांस नहीं खाते तथा शुभाशुभसूचक चिह्न करते रहते हैं, इत्यादि अनेक गुण कुत्ते में विद्यमान हैं।

तब पंडित ने कहा कि तो निर्गुणपुरुषों को 'मनुष्यरूपेण खराश्चरन्ति' मनुष्यरूप से गर्दभ जानना चाहिये। इस पर फिर प्रतिवादी ने गर्दभ का भी पक्ष लेकर कहा कि—

शीतोष्णं नैव जानाति, भारं, सर्वं दधाति च।
तृणभक्षणसन्तुष्टः, प्रत्यहं भद्रकाऽऽकृतिः ।।६।।

भावार्थ—गर्दभ शीत और उष्णता की परवाह न कर भार को वहन करता है और तृणभक्षण से ही निरन्तर प्रसन्नबदन बना रहता है।

प्रयाण समय में गर्दभ का शब्द मांगलिक समझा जाता है, जो कोई उसके शब्दशकुनों का विचार कर कार्य करता है वह सफलता प्राप्त करता है। इसलिये गुणहीनों को उसके समान मानना अनुचित है।

तब पण्डित ने कहा कि गुणहीन पुरुषों को 'मनुष्यरूपेण भवन्ति चोष्ट्राः' मनुष्यरूप से ऊँट समझना चाहिये। किन्तु प्रतिवादी ऊँट का पक्ष ग्रहणकर कहने लगा कि—

वपुर्विषमसंस्थानं, कर्णज्वरकरो रवः।
करभस्याशुगत्यैव, छादिता दोषसंहतिः ।।७।।

भावार्थ—यद्यपि प्रत्येक अवयव टेढ़े होने से ऊँट का शरीर विषम संस्थान (आकार) वाला है और कानों को ज्वर चढ़ाने वाला उसका शब्द है, लेकिन एक शीघ्रचाल से उसके सभी दोष आच्छादित हैं।

क्योंकि संसार में शीघ्रचाल भी उत्तम गुण है, जो चाल में मन्द है उसका कार्य भी शिथिल समझा जाता है। यद्यपि सब जगह सब चालों से कार्य किया जाता है तथापि हर एक कार्य में प्रायः शीघ्रचाल की अधिक आवश्यकता रहती है। और ऊँट खाने के लिये भी स्वामी को अधिक तकलीफ नहीं देता, सामान्य भोजन से ही सन्तुष्ट रहता है। गुणहीन मनुष्यों से तो ऊँट लाख दर्जे अधिक उत्तम है।

तब पण्डित धनपाल ने कहा कि गुणहीनों को 'मनुष्यरूपेण भवन्ति काकाः' मनुष्य आकार से कौए के समान जानना चाहिये। प्रतिवादी ने फिर काक का भी पक्ष लेकर कहा कि—

प्रियं दूरगतं गेहे, प्राप्तं जानाति तत्क्षणात्।
न विश्वसिति कञ्चापि, काले चापल्यकारकः।।८।।

भावार्थ—दूर विदेश में गया हुआ प्रिय पुरुष जब घर की ओर आने वाला होता है तो उसे काक शीघ्र जान लेता है, किसी का विश्वास नहीं रखता, और समय पर चपलता धारण करता है उसकी समता मूर्ख कैसे कर सकता है।

किसी युवती ने एक वायस (कौआ) को स्वर्णमय पींजरे में रख गृहांगणस्थित वृक्ष पर टाँग रखा था। उसकी सखी ने पूछा कि संसार में मैना, शुक आदि पक्षियों को लीला के लिये लोग रखते हैं किन्तु वायस तो कोई नहीं रखता, नीच पक्षियों से कहीं गृहशोभा हो सकती है ? युवती ने कहा कि—

अत्रस्थः सखि ! लक्षयोजनगतस्यापि प्रियस्याऽऽगमे,
वेत्त्याख्याति च धिक् शुकादय इमे सर्वे पठन्तः शठाः।
मत्कान्तस्य वियोगरूपदहनज्वालालेश्चन्दनं,
काकस्तेन गुणेन काञ्चनमये व्यापारितः पञ्जरे।।९।।

भावार्थ—सखि ! उन शुकादि सब पक्षियों को धिक्कार है जो केवल मधुर बोलने में ही चतुर हैं। मेरे स्वामी के 'वियोग' रूप अग्नि ज्वाला को शान्त करने में चन्दनवत् यह वायस ठीक है जो यहाँ से लक्षयोजन गये हुए पति के गृहागमन को जानता और कहता है। इसी गुण से यह कांचनमय पिंजर में रक्खा गया है।

तदनन्तर धनपाल पण्डित ने कहा तो गुणहीन को 'मनुष्यरूपेण हि ताम्रचूडाः' ऐसा कहना ठीक होगा। उस पर वादी ताम्रचूड़ का पक्ष लेकर बोला कि—आप का कहना ठीक नहीं, क्योंकि ताम्रचूड़ उपदेशक का काम देता है, वह पिछली रात्रि में दो-दो चार-चार घड़ी के अनन्तर अपनी गर्दन को ऊँची कर कहता है कि—

'भो लोकाः ! सुकृतोद्यता भवत वो लब्धं भवं मानुषं
मोहान्धाः प्रसरत्प्रमादवशतो माऽहार्यमाहार्यताम्।'

अहो लोगो! तुम्हें मनुष्य अवतार मिला है, सुकृत कार्य करने में उद्यत हो, मोहान्ध बन कर प्रमादवश से सुरक्ष्य मनुष्य भव को व्यर्थ न गमाओ।

कुक्कुट के वचन को सुनकर कितने एक पारमेश्वरीय—ध्यान में, कितने एक विद्याभ्यास में, और प्रभु भजन में लीन हो मनुष्य जीवन को सार्थक करते हैं। अतएव उसे गुणहीनों के समान न समझना चाहिये।

पण्डित ने कहा तो गुणहीन 'मनुष्यरूपाः खलु मक्षिकाः स्युः' मनुष्यरूपवाला मक्षिका समान है। उस पर भी वादी ने मक्खी का पक्ष लेकर कहा कि—

सर्वेषां हस्तयुक्तयैव, जनानां बोधयत्यसौ।
ये धर्मं नो करिष्यन्ति, घर्षयिष्यन्ति ते करौ।।६।।

भावार्थ—सब लोगों को हाथ घिसने की युक्ति से मक्षिकाएँ निरन्तर उपदेश करती हैं, कि जो धर्म नहीं करेंगे वे इस संसार में हाथ घिसते रहेंगे।

निर्गुणी मनुष्य तो उपकार शून्य है, मक्षिका तो सब का उपकार करती हैं। उनका मधु अमृत समान मीठा, रोगनाशक और बलवर्द्धक है, इसलिये गुणहीन मक्षिका के समान भी नहीं हो सकता।

तब धनपाल पण्डित ने कहा तो गुणहीन 'मनुष्यरूपेण भवन्ति वृक्षाः' मनुष्यरूप से वृक्ष सदृश होते हैं।

प्रतिवादी ने वृक्षों का पक्ष लेकर कहा—

छायां कुर्वन्ति ते लोके, ददते फलपुष्पकम्।
पक्षिणां च सदाधाराः, गृहाऽऽदीनां च हेतवः।१०।

भावार्थ—वृक्ष लोक में छाया करते हैं, फल पुष्प आदि देते हैं, और पक्षियों के घर उनके आधार से रहते हैं और मकान आदि बाँधने में वृक्ष हेतुभूत हैं।

उष्णकालसंबन्धि भयंकर ताप, चौमासा में भूमि की वाफ और जलधारा से हुई वेदना, जंगल में सर्वत्र फैली हुई दावानल की पीड़ा और छेदन, भेदन आदि दुःखों को वे सहकर भी दूसरों के लिये

सुस्वादु और मिष्ट फल देते हैं। भिन्न-भिन्न रोगों की शान्ति के लिये जितने अवयव वृक्षों के काम आते हैं उतने किसी के नहीं आते। संजीविनी और कुष्टविनाशिनी आदि गुटिका वृक्षों की जाति से ही बनाई जाती हैं। उत्तम-उत्तम वाद्यों का आनन्द वृक्षों के द्वारा ही होता है, तो गुणहीन को वृक्ष के समान मानना नीति विरुद्ध है।

तदनन्तर धनपाल ने कहा तो गुणहीनों को 'मनुष्यरूपेण तृणोपमानाः' मनुष्यरूप से तृण के सदृश कहना चाहिये।

तदनन्तर वादी ने तृण का पक्ष अवलम्बन कर कहा कि—

गवि दुग्धं रणे ग्रीष्मे, वर्षाहिमन्तयोरपि।
नृणां त्राणं तृणादेव, तत्समत्त्वं कथं भवेत्? ।।११।

भावार्थ—गोजाति में दूध होता है, संग्राम, वर्षा और हेमन्त ऋतु में तृण से ही मनुष्यों का रक्षण होता है। ये गुण गुणहीन पुरुष में नहीं हैं इससे वह तृण के समान कैसे हो सकता है?

संसार में सभी प्राणियों का पालन तृण करता है यदि एक ही वर्ष तृण पैदा नहीं होता तो असंख्य प्राणियों के प्राण चले जाते हैं। मंदिर आदि जितनी इमारतें हैं वे तृण की सहायता से बनती हैं, यदि तृण न हो तो अमृत के समान मधुर दूध-दही भी मिलना कठिन है।

विद्वान धनपाल ने कहा तो 'मनुष्यरूपेण हि धूलितुल्याः' मनुष्यरूप से धूलि समान मानना ठीक होगा।

वादी ने धूलि का भी पक्ष लेकर कहा—

कारयन्ति शिशुक्रीड़ां पङ्कनाशं च कुर्वते।
रजस्तात्कालिके लेखे, क्षिप्तं, क्षिप्तं फलप्रदम् ।।१२।।

भावार्थ—बालकों को लीला कराना, कीचड़ को नाश करना, तत्कालिक लेख में स्याही सुखाने के लिये डाला हुआ रज (धूलि) शीघ्र फलदायक होता है। ये चार गुण धूलि में महत्त्वशाली हैं, अतएव गुणहीन धूलि तुल्य नहीं हो सकता।

अन्त में अगत्या पण्डित धनपाल ने यह निर्धारित किया कि संसार मण्डल में प्रत्येक वस्तु गुणों से शोभित है किन्तु गुणहीन मनुष किसी प्रकार शोभा के क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर सकते। इसलिये हर एक मनुष्य को गुणरूप रत्न संग्रह करने में उद्यत रहना चाहिये, और जो गुणी हैं उनका यथाशक्ति बहुमान करना चाहिये।

'आत्मिक उन्नति केवल पवित्र तथा महत्त्वाकांक्षाओं से होती है। वह मनुष्य जो निरन्तर उच्च और उन्नत विचारों में भ्रमण करता है, जिनके हृदय, आत्मा और मन में सर्वदा शुद्ध और निःस्वार्थ विचार भरे रहते हैं, निःसन्देह वह मध्याह्नस्थ सूर्य की भाँति जाज्वल्यमान, और पूर्णिमा के सुधाकर की भाँति माधुर्यपूर्ण होता है। वह ज्ञानवान् और सदाचारी होकर उस स्थान को प्राप्त करता है जहाँ से वह संसार में बड़ा प्रभावशाली प्रकाश डालता, और अमृत की वर्षा करता है।'

'बिना स्वार्थ—त्याग के किसी प्रकार उन्नति और किसी तरह की सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। मनुष्य को सांसारिक विषयों में भी उसी अनुसार सफलता होगी। जिस अनुसार वह अपने विकारयुक्त, डाँवाडोल तथा गड़बड़ पाशविक विचारों का संहार करेगा और अपने मन को अपने प्रयत्नों और उपायों पर स्थिर करेगा और अपने प्रण को दृढ़ता प्रदान करता हुआ स्वावलम्बी होगा। वह अपने विचारों को जितना ही उन्नत करता है उतनी ही अधिक मनुष्यता, दृढ़ता और धर्मपरायणता प्राप्त करता है और उस की सफलता भी उतनी ही श्लाघनीय होती है। ऐसे श्रेष्ठ मनुष्य की उन्नति चिरकाल तक स्थिर रहती है और वह धन्य होता है।'

पाठक महोदय! ऊपर जो विरुद्धगोष्ठी लिखी गई है उसका सार यही है कि मनुष्य मात्र की शोभा सद्‌गुणों से होती है, अतएव सद्‌गुणी बनने का उद्योग करते रहना चाहिये। यदि गुण संग्रह करने की असमर्थता हो तो शुद्ध मन से गुणवानों का भक्ति बहुमान करना चाहिये। ऐसा करने से भी भवान्तर में सद्‌गुण सुगमता से मिल सकेंगे। यह बात शास्त्रसिद्ध है कि जो भला या बुरा करता है, उसे वैसा ही फल मिलता है अगर भलाई करेगा तो भलाई, और बुराई करेगा तो बुराई मिलेगी। कथानुयोग के ग्रन्थों को देखने से स्पष्ट जान पड़ता है कि—प्रत्येक व्यक्ति का जैसा आचरण होता है वैसा ही फल भवान्तर में, अथवा भवान्तर में किया हुआ इस भव में मिलता है। अर्थात् जो सदाचारी, गुणानुरागी और सुशील होगा वह भवान्तर में भी वैसा ही होगा, और दुराचारी, परापवादी होगा तो उसके अनुसार वह भवान्तर में भी दुराचार प्रिय होगा। क्योंकि सदाचारी और सदाचार प्रशंसक दोनों शुभगति, तथा दुराचारी और दुराचारप्रशंसक दोनों अशुभगति के भाजन हैं।

हर एक पुरुष या स्त्री को इतना अवश्य जान लेना चाहिये कि गुणरत्न विभूषित पुरुषों का जितना बहुमान किया जाय, वह शुद्धमन से करना चाहिये। क्योंकि मनःशुद्धि के बिना आत्मवल का साधन भले प्रकार नहीं हो सकता, चाहे जितना तप, जप, सामायिक, प्रतिक्रमण, पूजा, यात्रा, देव-दर्शन, केशलुंचन, मौनव्रत आदि धार्मिक कार्य किये जाय, किन्तु उनका वास्तविक फल मनःशुद्धि हुए बिना नहीं मिल सकता जिस प्रकार शारीरिक बल बढ़ाने के लिये बलवर्द्धक पदार्थ उदरस्थित मल को साफ किये बिना कार्यकारी नहीं होते। उसी प्रकार मन की मलिनता दूर किये विना आत्मबल की सफलता नहीं होती। कहावत है कि—'मन चङ्गा तो कथरोट में गङ्गा।'

वास्तव में महात्मा और आदर्श पुरुष बनना कोई दैवी घटना नहीं है और न किसी दूसरे की कृपा का फल है, किन्तु वह अपने ही विचारों के ठीक, ठीक पथ पर ले चलने के लिये किये गये निरन्तर प्रयत्न का स्वाभाविक फल है। महान् और आदरणीय विचारों को हृदय में स्थान देने से ही कोई, कोई महात्मा हुए हैं, इसी तरह दुष्ट और राक्षस भी अपने ही दुष्ट और राक्षसी विचारों के फल हैं।

ऐसा समझकर भवान्तर में सद्‌गुणों की सुलभता होने के लिये मलिन विचारों को हटाकर शुद्ध मन से गुणी पुरुषों का बहुमान करने में प्रयत्नशील रहना चाहिये। और उत्तमता की सीढ़ी पर जितना चाहिये उतना चलते न बने तो धीरे-धीरे आगे बढ़ने का उत्साह रखना चाहिये। क्योंकि जो गुणी होने का प्रयत्न करता रहता है वह किसी दिन गुणी बनेगा ही।

• • •

उपसंहार और गुणानुराग का फल—

***एयं गुणाणुरायं,**
सम्मं जो धरइ धरणिमज्झंमि।
सिरिसोमसुंदरपयं,
पावइ सव्वनमणिज्झं।।२८।।

शब्दार्थ—(धरणिमज्झंमि) पृथ्वी पर रहकर (जो) जो पुरुष (सम्मं) अच्छी तरह (एयं) इस प्रकार के (गुणाणुरायं) गुणानुराग को

---

*एतं गुणाणुरागं, सम्यग यो धारयति धरणिमध्ये।
श्रीसोमसुन्दरपदं, प्राप्नोति सर्वनमनीयम्।।२८।।

(धरइ) धारण करता है वह (सव्वनमणिज्जं) सब के वन्दन करने योग्य (सिरिसोमसुंदरपयं) श्रीसोमसुन्दर—तीर्थङ्कर पद को (पावइ) पाता है।

भावार्थ—जो पुरुष गुणानुराग को उत्तम प्रकार से अपने हृदय में धारण करता है, वह सर्वनमनीय सुशोभ्य श्रीतीर्थङ्कर पद को पाता है।

विवेचन—भले विचार और कार्य सर्वदा भलाई ही उत्पन्न करते हैं, बुरे विचार और कार्य सर्वदा बुराई ही उत्पन्न करते हैं। इसका अर्थ यह है कि गेहूँ का बीज गेहूँ उत्पन्न करता है और जौ का जौ। मनुष्य को यह नियम अच्छी तरह समझना चाहिये और तदनुसार ही कार्य में प्रवृत्त होना चाहिये। परन्तु संसार में विरले ही इस नियम को समझते होंगे, इसलिये उन का जीवन सर्वदा असफल ही होता है। (मनुष्य विचार पृष्ठ १६)।

जो भले विचारों को हृदयङ्गम कर गुणानुराग रखते हैं, और उत्तमपथगामी बन गुणोपार्जन करने में लगे रहते हैं उन्हें उपकार परायण उत्तम पद मिलने में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। संसार में आदर्श पुरुष बन जाना यह गुणानुराग का ही प्रभाव है। हर एक व्यक्ति गुण से महत्वशाली बन सकता है, जिसमें गुण और गुणानुराग नहीं है वह उत्तम बनने के लिये अयोग्य है। निन्दा करने से गुण और पुण्य दोनों का नाश होता है और गुणानुराग से वृद्धि होती है। परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, लोलुपता, विषय और कषाय इन पाँच बातों से साधुधर्म भी नष्ट होता है तो दूसरे गुण नष्ट हों इसमें आश्चर्य ही क्या है। जिस प्रकार एक ही सूर्य सारे संसार में प्रकाश करता है और चन्द्रमा अपनी अमृत किरणों से सब को शीतलता देता है उसी प्रकार गुणानुरागी पुरुष अकेला ही अपने ईश्वरीय प्रेम से समस्त पृथ्वी मंडल को अपने वश में कर सकता है और दूसरों को भी उत्तमपथ पर पहुँचा सकता है। अतएव हर एक मनुष्य को चाहिये कि अपने स्वभाव को गुणानुरागी बनावें और आगे लिखी हुई शिक्षाओं को अपने हृदय में धारण करने का प्रयत्न करें।

बिन्दु-बिन्दु विचार

१. सज्जनों के साथ बैठना चाहिये, सज्जनों की संगती में रहना चाहिये और सज्जनों के ही साथ विवाद करना चाहिये। दुर्जनों से किसी प्रकार का संपर्क (सहवास) नहीं करना चाहिये।

२. यदि सज्जनों के मार्ग पर जितना चलना चाहिये उतना नहीं चलते बने तो थोड़ा ही थोड़ा चलकर आगे बढ़ने की कोशिश करो, रास्ते पर जब पाँव रक्खोगे तब सुख मिले ही गा।

३. मनुष्य को प्रतिदिन अपने चरित्र की आलोचना (विचार) करते रहना चाहिये और यह सोचना चाहिये कि मेरा आचरण (व्यवहार) पशु के तुल्य है किं वा सत्पुरुष के सदृश।

४. जैसे घिसने, काटने, तपाने और पीटने; इन चार बातों से सोने की परीक्षा होती है वैसे ही विद्या, स्वभाव, गुण और क्रिया; इन चार बातों से पुरुषों की जाँच होती है।

५. सच्चरित्र पुरुष का संक्षिप्त लक्षण इतना ही है कि उसमें सत्यप्रियता, शिष्टाचार, विनय, परोपकारिता और चित्त की विशुद्धता, ये गुण पाये जायँ, शेष जितने गुण हैं वे इन्हीं के अन्तर्गत हैं।

६. लोग अच्छे व्यवहार से मनुष्य और बुरे व्यवहार से पशुओं के तुल्य गिने जाते हैं। तुम यदि उदार, परोपकारी, विनयी, शिष्ट, आचारवान् और कर्त्तव्य-परायण होवोगे तो संसार के सभी लोग तुम्हें मनुष्य कहेंगे और तुम भी तब समझोगे कि मनुष्यता किसको कहते हैं।

७. सुशीलता, उच्चाभिलाषा अपने विभव के अनुसार भोजन, वस्त्र और भूषण का व्यवहार, दुर्जनों की संगति, अपनी प्रशंसा और पराये की निन्दा से विरत रहना, सज्जनों के वचन का आदर करना, सदा सत्य बोलना, किसी जीव को दुःख न पहुँचाना, सब प्राणियों पर दया करना; ये सब सुजनता के लक्षण हैं।

८. संसार में जितने बड़े-बड़े साधु, महात्मा, धार्मिक, योगी और कर्मकांडी आदि हुए हैं, जो अपने-अपने निर्मल चरित्र के प्रकाश से मानव-समाज को उज्ज्वल कर गये हैं, वे सभी निःस्वार्थ और ऐश्वरीय प्रेमसंपन्न थे।

९. जिन लोगों ने बचपन में सौजन्य-शिक्षा का लाभ नहीं लिया, जो लोग सौजन्य-प्रकाश करने का संकल्प करके भी अपने

कठोर स्वभाव के दोष से अशिष्ट व्यवहार कर बैठे हैं वे लोग साधारण कामों में शिष्टाचारी होने का अभ्यास करते-करते अन्त में शिष्ट और सुशील हो सकते हैं।

१०. जो स्वभाव के चञ्चल हैं, वे गंभीरभाव का अभ्यास करते गंभीर बन सकते हैं। उसी प्रकार जो गंभीर प्रकृति के मनुष्य हैं, वे वाचाल बन्धु-समाज में रह कर उन लोगों के मनः सन्तोषार्थ वाचालता का अनुकरण करते-करते स्वभावतः वाचाल हो सकते हैं।

११. चिरकाल तक अशिष्ट व्यवहार से हृदय की कोमलता के नष्ट हो जाने पर भी कोई इस बात को अस्वीकार नहीं कर सकता कि अशिष्ट लोगों के संसर्ग की अपेक्षा शिष्टाचारी, विनयी सज्जन की संगति में विशेष सुख नहीं है।

१२. अपने जीवन को सुखी बनाने के लिये अनेक उपाय हैं, उनमें शिष्ट व्यवहार भी यदि एक उपाय मान लिया जाय और इससे दूसरी कोई उपकारिता न समझी जाय तो भी सुजनता की शिक्षा नितान्त आवश्यक है। सामान्य सुजनता से भी कभी-कभी लोगों का विशेष उपकार हो जाता है।

१३. कठोर बातें बोलना, दूसरों के अनिष्टसाधन में प्रवृत्त होना, निर्दयता का काम करना और अहङ्कार दिखलाना अशिष्टता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। अयुक्त रीति से जो शिष्टता दिखलाई जाती है उसे भी लोग निंदनीय समझते हैं।

१४. दृढ़प्रतिज्ञा, अध्यवसाय, आत्मवश्यता और उद्योगपरता से मनुष्य क्या नहीं कर सकता। जब तुम बराबर परिश्रम करते रहोगे तब जो काम तुम्हें आज असाध्य जान पड़ता है वह कल सुसाध्य जान पड़ेगा।

१५. दूसरे की उन्नति देखकर हृदय में विद्वेषभाव का उदय होना अत्यन्त गर्हित है। जो उच्च हृदय के मनुष्य हैं उनके हृदय में ऐसा विद्वेष कभी उत्पन्न नहीं होता। वे गुण का ग्रहण करते हैं, दोषों का त्याग करते हैं और जिससे उन्हें कल्याण की आशा होती है उसका आदर करते हैं और जिससे अमंगल होने की संभावना होती है, उससे विरत रहते हैं, महान् पुरुषों का यही कर्त्तव्य है।

१६. जो स्वार्थ की रक्षा करते हुए यथासाध्य दूसरे का उपकार करते हैं वे उन स्वार्थियों से अच्छे हैं जो दिन रात अपने ही

लिये हाय हाय करते रहते हैं। संसार के लोग भले ही दुःखी हों पर मेरा अभीष्ट सिद्ध हो इस प्रकार की स्वार्थता बड़ी ही निन्द्य और त्याज्य है।

१७. कोई एक ऐसा स्वार्थ है जिससे तुम लाभ उठा रहे हो और हजारों की हानि हो रही है, वहाँ तुम्हें स्वार्थ त्याग देना ही समुचित है। वह सुख किस काम का जो हजारों के मन में दुःख पहुँचा कर प्राप्त हो। जिनका हृदय उच्च है, जो सब के साथ उच्च प्रेम रखते हैं वे वैसा ही काम करते हैं जिससे हजारों क्या लाखों मनुष्य सुख पाते हैं।

१८. जिनके हृदय में प्रेम और दया नहीं उनके मुँह से प्रायः मधुर वचन नहीं निकलते। प्रेम और दया ही मधुर वाणी का उत्पत्ति स्थान है। जो लोग प्रेमिक और दयालु हैं वे बहुधा मिष्टभाषी होते हैं।

१६. जिनकी अवस्था ऐसी नहीं है जो किसी का विशेष उपकार कर सकें, उन्हें इतना तो अवश्य चाहिये कि दो चार मीठी बातें बोलकर ही दूसरे को आप्यायित (आनन्दित) करें।

२०. यदि सच्चा सुख पाने की इच्छा हो, यदि दूसरे के मनोमन्दिर में विहार करना चाहते हो और सारे संसार को अपना बनाना चाहते हो तो अभिमान को छोड़ कर मिलनशील हो मीठी बातें बोलने का अभ्यास करो। मनुष्यों के लिये मधुरभाषण एक वह प्रधान गुण है जिससे संसार के सभी लोग सन्तुष्ट हो सकते हैं, अतएव मनुष्यमात्र को प्रियभाषी होने का प्रयत्न करना चाहिये।

२१. अच्छे मनुष्य नम्रता से ही ऊँचे होते हैं, दूसरे मनुष्यों के गुणों की प्रसिद्धि से अपने गुण प्रसिद्ध करते हैं। दूसरों के कार्यों की सिद्धि करने से अपने कार्यों को सिद्ध करते हैं और कुवाक्यों से बुराई करने वाले दुर्जनों को अपनी क्षमा से ही दूषित करते हैं, ऐसे आश्चर्ययुक्त कामों के करने वाले महात्माओं का संसार में सब आदर किया करते हैं।

२२. दुःखियों की आह सुनकर यदि तुम हँसोगे, और दीन हीन अनाथों की आँखों के आँसू न पोंछ कर घृणा के साथ उनकी उपेक्षा करोगे, तो इस संसार में तुम्हारे आँसू पोंछने कौन आवेगा, और संकट में कौन तुम्हारी सहायता करेगा ?

२३. मनुष्य को चाहिये कि वह किसी से कठोर बात न कहे और न अपराधी को सख्त सजा दे। जिस मनुष्य से दूसरे प्राणी मृत्यु के समान डरते रहते हैं उस को भी अपनी कुशल न समझनी चाहिये। उसे भी ज़रूर किसी समय दूसरे से डर लगेगा और वह ऐहिक और पारलौकिक यश प्राप्त नहीं कर सकेगा।

२४. जो यह चाहता है कि मैं बहुत दिन तक जीवित रहूँ उसको चाहिये कि वह किसी प्राणी को न कभी खुद मारे और न दूसरे मनुष्य को मारने की आज्ञा दे। इसी तरह जो अपने लिये जिस जिस बात को अच्छी समझकर चाहता हो उसे वही बात दूसरे के लिये भी अच्छी समझनी चाहिये और दूसरे के हित के लिये भी उसे वैसा ही करना चाहिये।

२५. जो काम अपने लिये अप्रिय है वही काम दूसरे को भी अप्रिय लगेगा। दूसरे मनुष्य के किये हुए जिस काम को हम अपने लिये बुरा समझते हैं वही काम दूसरे को भी बुरा लगेगा। इसलिये हमको भी वह काम दूसरे के लिये कभी न करना चाहिये।

२६. तृष्णा को अलग करो, क्षमा करने वाले बनो, घमंड को पास न आने दो, पाप के कामों में प्रीति न करो, सदा सत्य बोलो, अच्छे मनुष्यों के मार्ग पर चलो, विद्वानों की सोबत करो, शिष्ट पुरुषों का सत्कार करो, दुखियों पर दया रक्खो, गुणानुरागी और सरलस्वभावी बनो; ये अच्छे मनुष्यों के लक्षण हैं।

२७. परम पुरुषार्थ करने में जिन्हें लोभ हो रहा है, धन और संसार के विषयों से जो तृप्त हो चुके हैं और जो सत्य-मधुर बोलने और अपनी इन्द्रियों को वश करने में ही धर्म समझते हैं वे मनुष्य अमत्सरी और निष्कपट होते हैं। जिन साधनों के लिये लोग छल-कपट किया करते हैं उन की उन्हें आवश्यकता ही नहीं होती।

२८. जो मनुष्य ज्ञान से तृप्त होता है उसको किसी सुख के मिलने की कभी इच्छा नहीं होती। वह तो अपने ज्ञान-रूपी सुख को ही सदा सुख समझता है और उसी से सन्तुष्ट और तृप्त रहता है। वह अपने ज्ञान से अपने को अशोचनीय समझता है और शोक करते हुए या संसार के जाल में फंसे हुए मनुष्यों को शोचनीय समझता है।

२६. लक्ष्य-हीनता और निर्बलता का त्याग करने से और एक विशेष उद्देश्य को स्थिर कर लेने से मनुष्य उन श्रेष्ठ पुरुषों के

पद को प्राप्त करता है जो अपनी असफलताओं को सफलता की सीढ़ी बनाते हैं, जो प्रत्येक बाह्यावस्थाओं को अपना दास बना लेते हैं, जो दृढ़ता से विचार करते हैं, निर्भय होकर यत्न करते हैं और विजयी की भांति कदम बढ़ाते हैं।

३०. सावधानी और धैर्यपूर्वक अभ्यास करने से शारीरिक निर्बलता वाला मनुष्य अपने को बलवान् कर सकता है और निर्बल विचारों का मनुष्य ठीक-ठीक विचार करने के अभ्यास से अपने विचारों को सबल बना सकता है।

३१. जिसे साधारण उद्देश्यों में सफलता प्राप्त करनी है उसे साधारण स्वार्थों का ही त्याग करना होगा और जिसे महान् उद्देश्यों में सफलता प्राप्त करनी है उसे महान् स्वार्थों का त्याग करना होगा। जितना ऊँचा चढ़ना है उतनी ही ऊँची सीढ़ी की आवश्यकता है, और जितनी उन्नति करनी है उतना ही निःस्वार्थी बनना होगा।

३२. नम्रता और क्षमा के विचारों से मनुष्य नम्र और दयावान बन जाता है जिससे उसकी बाह्यावस्थाएँ उसकी रक्षक और पोषक बन जाती हैं। प्रेम और निःस्वार्थता के विचारों से मनुष्य दूसरों के लिये अपने को विस्मरण कर देता है जिससे उसकी बाह्यावस्थाएँ ऋद्धि और सच्चे धन की उत्पादक हो जाती हैं।

३३. प्रकृति प्रत्येक मनुष्य को उसकी उन इच्छाओं की पूर्ति में सहायता देती है जिसको वह अपने अन्तःकरण में सब से अधिक उत्साहित करता है, और ऐसे अवसर मिलते हैं जो शीघ्र ही उसके भले या बुरे विचारों को संसार में सम्मुख उपस्थित करते हैं।

३४. जब मनुष्य धन को चाहता है तो उसको कितना आत्म-संयम और परिश्रम करना पड़ता है? तो विचारना चाहिए कि उस मनुष्य को कितना अधिक आत्मसंयम करना पड़ेगा जो दृढ़, शान्त और ज्ञान मय जीवन की इच्छा करता है।

३५. विचार जो निर्भयता के साथ उद्देश्य से जोड़े जाते हैं बड़ी भारी उत्पादक शक्ति रखते हैं। वह मनुष्य जो इस बात को जानता है शीघ्र ही बलवान्, श्रेष्ठ और यशस्वी हो जाता है। वह फिर चञ्चल विचार वाला अस्थिर आवेश और मिथ्या संकल्प विकल्पों का पुतला नहीं रहता, वह मनुष्य जो इस भाँति उद्देश्य को पकड़

लेता है अपनी आत्मिक शक्तियों का जानने वाला स्वामी बन जाता है और उन शक्तियों को अन्य कामों में भी ला सकता है।*

जो मनुष्य उक्त शिक्षाओं को मनन कर अपने हृदय में धारण करता है अथवा इन गुणों के जो धारक हैं उन पर अनुराग रखता है उसे ग्रन्थकार के कथनानुसार 'श्रीसोमसुन्दरपद' अर्थात् तीर्थङ्कर पद प्राप्त होता है। तीर्थङ्करों की क्षमा और मैत्री सर्वोत्कृष्ट होती है, उनकी हार्दिक भावना सब जीवों को शासन-रसिक बनाने की रहती है, उनके उपदेश में निष्पक्षपात और सद्गुणों का मुख्य सिद्धान्त रहता है। शास्त्रों में स्पष्ट लिखा है कि—

सव्वं नाणुन्नायं, सव्वनिसेहो य पवयणे नत्थि।
आयं वयं तुलिज्जा, लाहाकंखि व्व वाणिआ।।१।।

भावार्थ—तीर्थङ्करों के प्रवचन में सब बात का निषेध अथवा आज्ञा नहीं है किन्तु लाभाकांक्षी वणिक की तरह लाभ और अलाभ की तुलना करे ऐसी आज्ञा है। अर्थात् जिस प्रकार वणिक लाभाऽलाभ विचार कर जिसमें अधिक लाभ जान पड़ता है उसमें प्रवृत्ति रहता है उसी प्रकार बुद्धिमान् मनुष्यों को हर एक कार्य करते समय लाभाऽलाभ का विचार कर लेना चाहिए, ऐसी तीर्थङ्कर प्रवचन की आज्ञा है।

तीर्थङ्करों का कथन राजा और रंक, मित्र और शत्रु, सब के लिये समानरूप से आदरणीय होता है। क्योंकि जहाँ सत्य, न्याय और दया का सिद्धान्त मुख्य है और जिसमें राग द्वेष और स्वार्थ पोषण नहीं है उसके उपदेश और कथन का कौन अनादर कर सकता है?, तीर्थंकरों का उपदेश व सिद्धान्त प्रमाण तथा नयों से अबाधित, और स्याद्वाद से शोभित है अतएव वह सर्वमान्य होता है। इसी से गुणानुराग धारियों के लिए तीर्थङ्करपद प्राप्ति-रूप फल बतलाया गया है।

अतएव जीवन को सुखमय बनाना हो, अनन्त अनुत्तर और निरावरण कैवल्य ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र को प्राप्त करना हो, भू मंडल में आदर्श और पूज्य पद की चाहना हो तो गुणानुराग धारण

* ये शिक्षायें चरित्र संगठन, मनुष्य विचार, और धर्मोपाख्यान आदि पुस्तकों से उद्धृत की गई हैं।

करो। ईर्ष्या, द्वेष और कलह को अपनी आत्मा में स्थान मत दो, दोषदृष्टि का परित्याग करो और मैत्रीभाव से सब के साथ वर्त्ताव रक्खो।

संसार के सब भोग और विभव नष्ट होने वाले हैं, इन्हीं भोग और विभव की आशाओं से जन्म मरण के चक्र में घूमना पड़ता है, आयुष्य, युवावस्था और चंचल लक्ष्मी देखते-देखते विलय हो जाती है, संसार में जो मिली हुई सामग्री है वह सब दुःखद है, सब चेष्टाएँ व्यर्थ हैं; ऐसा समझकर अपने मन को शुभयोगों के तरफ लगाओ और भलाई, गुणसंग्रह और सुखकारक कार्यों में प्रयत्न करना सीखो। काम, क्रोध आदि शत्रुओं से अलग होकर आत्मीय—प्रेम में मन लगाओ जिस से अविनाशी यश और सुख मिलेगा। यह मनुष्य जीवन किसी बड़े भारी पुण्ययोग से मिला है, अतएव जो कुछ प्रशस्यशुभकार्य कर लोगे वह साथ रहेगा।

वह्नयब्धिनन्देन्दु—मिते शुभेऽब्दे,
पौषे रवौ सिन्धुतिथौ यतीन्द्रैः।
गुणानुरागस्य विवेचनोऽयं,
भूयात् कृतः साधुजनस्य प्रीत्यै।।१।।

।।इतिविस्तरेणः।।